❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज-मार्ग

SAHAJ-MARGA

वर्ष १ अंक ४

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उ० प्र०

Shri Ram Chandra Mission

SHAHJAHANPUR (U. P.)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाल, (आसाम)

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३)] [एक अंक का १)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लीकेशन डिपार्टमेन्ट, शाहजहाँपुर उ० प्र० (इन्डिया)

विषय सूची:—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय		२
३—मरण-त्योहर (कविता)	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी, 'संध्या' लखीमपुर-खीरी उ०प्र०	४
४—भिक्षा का अधिकारी	श्री रामचन्द्र जी, शाहजहाँपुर उ०प्र०	५
५—भजन	महात्मा कबीरदास	६
६—साधना	कुमारी केसर चतुर्वेदी एम.ए., एल.टी.	७
७—मनोरंजक सम्वाद	संकलित	९
८—जिन्दगी में मौत का मजा चखने की दीवानगी	श्री काशीराम अग्रवाल, तिनसुकिया (आसाम)	१०
९—मनोरंजक सम्वाद	संकलित	१३
१०—प्रियतम की याद (कविता)	स्वर्गीय श्री मदनमोहनलाल बदायूं	१४
११—अभ्यासी के अनुभव	एक अभ्यासी	१५
१२—अभिलाषा (कविता)	श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव लखीमपुर-खीरी, उ०प्र०	१८
१३—समाज में धर्म और अध्यात्म का प्रकृत और विकृत रूप	श्री रघुनन्दनप्रसाद 'इन्द्र' लखीमपुर-खीरी	१९
१४—मनोरंजक सम्वाद	संकलित	२६
15—God Realization.	Sri Ram Chandra ji, Shahjahanpur, U. P.	1
16—March to Eternity.	Sri Ishwar Sahai Lakhimpur-Kheri U. P.	5
17—The Scientific basis of Sahaj Marga	Shri Raghavendra Rao Gulbarga—South India.	8

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

❀ ओ३म तत्सत् ❀

सहज-मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य बरान्निबोधतः

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो !)

वर्ष १ | दिसम्बर, १९५७ | अङ्क

प्रार्थना

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

(श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर की दैनिक प्रार्थना)

प्रतिबन्ध न होने के कारण उन लोगों को भी मिशन में आने से रोका नहीं जा सकता जो प्रतिभा और बौद्धिक परिष्कार की दृष्टि से उतने भाग्यशाली नहीं हैं जितने कि अनेक वैज्ञानिक और विद्वान। ऐसे साधक निस्संदेह हमारे बृहत्तर लक्ष्यों के प्रकाशन और चिरन्तन धर्म की उपर्युक्त व्याख्या में समुचित योग नहीं प्रदान कर सकते। इसके परिणामस्वरूप यदि प्रतिभा सम्पन्न महानुभाव क्षुब्ध होकर हमारे खुले निमन्त्रण को अस्वीकार करते रहें, तो इसके लिये उनके अतिरिक्त किसी को भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अहंकार शून्य प्रतिभा नीर-क्षीर विवेकी होती है, और नीर-क्षीर सभी कहीं साथ-साथ पाया जाता है।

❀ ❀ ❀ ❀

इस वर्ष मिशन के मुख्य अर्जन निम्नाङ्कित हैं।

(१) दक्षिण-भारत में मिशन का प्रसार।

(२) तीन पुस्तकों की पूर्ति।

(३) त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन।

(१) मिशन के प्रधान श्री रामचन्द्र जी ने लखीमपुर शाखा के संचालक के साथ दिसम्बर जनवरी में दक्षिण भारत का भ्रमण किया। वे १४ दिसम्बर को तिरुपट्टी पहुँचे, जहाँ श्री वेङ्कटेश्वर विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के रीडर डा० श्री के० सी० वरदाचारी एम० ए० पी० एच० डी० के साथ रुके। डा० वरदाचारी मिशन के साहित्य से परिचित थे और हमारे प्रधान श्री बाबू जी से काफी समय से पत्र व्यवहार और उनके निर्देशानुसार साधना में संलग्न थे। इस बार उन्होंने मिशन के प्रधान का प्रत्यक्ष सम्पर्क लाभ करके मिशन की सदस्यता स्वीकार कर ली और मिशन के द्वारा सेवा का व्रत लिया। मिशन को डाक्टर साहब से अनेक आशायें हैं। तिरुपट्टी से श्री बाबू जी मद्रास, त्रिचनापल्ली, तन्जोर तथा गुलबर्गा गये। मद्रास में श्री एन० कुमारस्वामी को प्रशिक्षण की आज्ञा प्रदान करके उनके संचालन में मिशन का एक और केन्द्र स्थापित किया। [मद्रास में एक केन्द्र श्री सी० एन० टी० मुदालियर के संचालन में पहले से ही संस्थापित हैं।] तन्जोर में श्री एम० एस० श्रीनिवासन के साथ रुके और मिशन के प्रति सहानुभूति और जिज्ञासा रखने वाले सज्जनों से मिले। गुलबर्गा में श्री राघवेन्द्र राव के संचालन में मिशन की शाखा पहले से ही संस्थापित है। इस बार उसका उद्घाटन श्री बाबू जी द्वारा हुआ। उद्घाटन के अवसर पर दिया हुआ उनका भाषण 'सहज मार्ग' के इस वर्ष के दूसरे अङ्क में प्रकाशित हो चुका है। दक्षिण भारत के समस्त प्रशिक्षण केन्द्र गुलबर्गा शाखा के अन्तर्गत कार्य करेंगे।

(२) मिशन के प्रधान श्री बाबू जी की अंग्रेजी की पुस्तक 'Reality at Dawn' का तामिल भाषा में अनुवाद डाक्टर के० सी० बरदाचारी की देख रेख में श्री ए० बाला सुब्रह्मण्यम द्वारा सम्पन्न हुआ। श्री बाबू जी की एक अन्य अप्रकाशित पुस्तक 'अनन्त की ओर' जो मूलतः उर्दू में लिखी गई थी, लखीमपुर शाखा के अभ्यासियों के प्रयत्न से हिन्दी भाषा में रूपान्तरित हो गई।

तीसरी पुस्तक लखीमपुर शाखा के संचालक श्री ईश्वर सहाय जी ने अंग्रेजी में लिखी। इस पुस्तक का नाम Fundamentals of the Philosophy of Sahaj Marg है। सहज-मार्ग की साधना-पद्धति

सम्पादकीय

आज के मानव को विभिन्न विज्ञानों की उन्नति भौतिक समृद्धि और शक्ति प्रदान की है। उसके ाध्यात्मिक स्तर का तदनुकूल उत्थान न हो सकने परिणाम-स्वरूप यही समृद्धि और शक्ति उसके लिये अभिशाप सिद्ध हो रही है। विश्व के प्राय: भी महान मनीषी यह स्वीकार करते हैं कि ाज के युग की मांग मानव की आध्यात्मिक एवं ौतिक उन्नति के स्तरों के वैषम्य का निराकरण । इस समस्या के समाधान के अनेक एकाङ्गी यास हो रहे हैं। एक ओर धर्म-गुरू विज्ञानों की गति पर रोक लगाने तथा वैज्ञानिक अन्वेषणों रा उत्पन्न आधुनिक संस्कृति को अनैतिक और स्पर्श्य घोषित करने के पक्षपाती हैं। दूसरी ोर विज्ञानों के पंडित अध्यात्म शास्त्र को रहस्या- क एवं कपोलकल्पित मानकर भौतिक समृद्धि ही मानव के परम श्रेय के रूप में स्वीकार ते हैं। हमारा विश्वास है कि इन्हीं परस्पर रोधी दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करना ाज के युग की सब से बड़ी आवश्यकता है।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक कि अध्यात्म शास्त्र और ब्रह्म विद्या अध्ययन, ीक्षण और अभ्यास (Practice) के लिये सुलभ । इसके अध्ययन और अभ्यास पर रोक तो ी भी नहीं रही। किन्तु अधिकारी शिष्य की ग्यता-सम्बन्धी प्रतिबन्धों आदि के कारण यह द्या अध्ययन की (आधुनिक) वैज्ञानिक पद्धति की दृष्टि से रहस्यात्मक और दुरूह समझी जाती रही है। इसे सामान्य जन के लिये सुलभ करने का प्रयास कर के ही भारतवर्ष मानव जाति के समक्ष उपस्थित समस्या के समाधान में सहायक हो सकता है। जिस शाश्वत कल्याणकारी धर्म का साक्षात्कार समस्त समस्याओं को समाप्त कर देता है, वह एक ही है। काल और देश की विशेष माँगों को ध्यान में रखते हुये उसकी व्याख्या के प्रयास मानव-संस्कृति के आदि काल से बार-बार होते आये हैं। शाश्वत मानव धर्म की उपयुक्त व्याख्या आज के युग की भी माँग है। केवल व्याख्या ही नहीं, वास्तविक कार्य तो उपर्युक्त धर्म के अभ्यास को जन साधारण के स्तर पर सुलभ करना है।

हमारा श्री रामचन्द्र मिशन आज १२ वर्षों से उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति के लिये अपने ढंग से प्रयत्नशील है। हम ब्रह्म विद्या और अध्यात्म शास्त्र को सच्चे जिज्ञासु केलिये तनिक भी रहस्यात्मक और दुरूह नहीं मानते। बड़े से बड़े वैज्ञानिकों और प्रतिभा-सम्पन्न अन्वेषकों को हमारा खुला निमन्त्रण है कि वह इस विद्या को अध्ययन और परीक्षण की दृष्टि से अपनायें। यह उन्हीं का दायित्व है कि इस विद्या और धर्म के मर्म को समझ कर युग की माँग के अनुकूल उसकी व्याख्या प्रस्तुत करें। इस विद्या के अध्ययन और उसके अनुसार शाश्वत धर्म के अभ्यास और आचरण के लिए जन साधारण के किसी वर्ग विशेष पर

के आधार भूत प्रत्ययों और सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कराने में यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। इन तीनों पुस्तकों के शीघ्र ही प्रकाशित होने की आशा है।

(३) मिशन की तिनसुकिया (आसाम) शाखा के सत्संगियों के सत्प्रयास के परिणाम स्वरूप इस वर्ष मिशन के मुख-पत्र 'सहज मार्ग' का त्रैमासिक प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। एतदर्थ तिनसुकिया शाखा के सभी सत्संगी भाई बधाई के पात्र हैं। जिन महानुभावों ने पत्रिका को आर्थिक सहायता प्रदान की है, उनके हम आभारी हैं। सहृदय ग्राहक हमारे धन्यवाद के पात्र हैं, कि हमारी त्रुटियों की ओर ध्यान न देते हुये निरंतर हमारा उत्साह वर्धन करते रहे।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रस्तुत अङ्क 'सहज मार्ग' के प्रथम वर्ष का अन्तिम अङ्क है। इसे पत्रिका के प्रकाशन की प्रारम्भिक योजना के अनुसार अक्टूबर में प्रकाशित हो जाना चाहिये था। किन्तु कुछ अनिवार्य कारणों से इस वर्ष पत्रिका का प्रकाशन योजनानुकूल नहीं चल पाया। दूसरे वर्ष का प्रथम अङ्क मार्च सन् १९५८ में प्रकाशित होगा, और बाद के अंक क्रमशः जून, सितम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित होंगे। हमें विश्वास है कि हमारे पाठकों की सहृदयता और सहानुभूति पत्रिका की उत्तरोत्तर उन्नति में सहायक होगी। पत्रिका के प्रति सहानुभूति रखने वाले तथा उसकी उन्नति के आकांक्षी समस्त सज्जनों के प्रति एक बार फिर आभार प्रदर्शन करते हुये हम अपनी त्रुटियों के लिये उनसे क्षमा प्रार्थी हैं।

— सम्पादक गण

❀ मरण-त्योहार ❀

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी, 'संध्या' लखीमपुर-खीरी, उत्तर प्रदेश)

आज मरण-त्योहार, सखी !

ज्ञान के गोबर आंगन लीपो, आसन-कुशा डसी ॥१॥
त्याग-विराग-धूप सुलगाई, कलसी लगन-भरी।
मुदिता-करुणा-मैत्रि-उपेक्षा, पुहुप, गुलाल गरी ॥२॥
'राम'-नाम-तुलसी-गङ्गाजल, प्राणाहुति-कफनी।
चारि वेद पंडित बनि आये, सावद्र-मंत्र-गुनी ॥३॥
ध्यान-टिकटिया, सुरत-कलावा, अरथी अजब सजी।
पुरुसारथ❀ के काँधा देतहिं, अजया-ढोल बजी ॥४॥
चुना सहज-पथ शव-यात्रा हित, त्यागि सकल डगरी।
"राम-नाम है सत्य" यही ध्वनि, गूंज रही नगरी ॥५॥
उदासीनता-ज्वाल जगमगी, अर्पन-चिता जली।
ता पर चढ़ि 'सन्ध्या', सत ढूँढ़न, सद्गुरु पास चली ॥६॥

❀पुरुषार्थः- (१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम, (४) मोक्ष।

भिक्षा का अधिकारी

(श्री रामचन्द्र जी, शाहजहांपुर–उत्तर प्रदेश)

फकीर के पास कौन सा धन होता है ? वह तो भिखारी है— उस दरबार का । किन्तु कैसा भिखारी— कि प्याला सामने मगर माँगने का होश नहीं । एक व्यक्ति भीख माँगने जाता है किन्तु मालिक के पास जाकर इतना आत्मविस्मृत हो जाता है कि उसको यह भी याद नहीं रहता कि वह इस प्याले को भर लाने के लिए मालिक के पास गया था । प्याला सामने है, किन्तु उसको यह भी ख्याल नहीं कि वह क्या माँगने गया था और किससे । ऐसा आत्मविस्मृत है कि बेगानावार (अपरिचित के रूप में) अन्जुमन (सभा) में दाखिल है जहाँ कि शमा (दीपक) भी बुझ चुकी है । तमीज़ (बोध) बाकी (शेष) अब नहीं है कि यह आरास्तगीये महफिल (सभा की सजावट) किस से है । केवल हाथ उठे हुऐ हैं । कुछ समझ में नहीं आ रहा है, वह इतना खोया हुआ है । यह माँगने वाले की हालत है । मालिक के सामने यह प्याला इस रूप में गया है कि अन्त में केवल प्याले की ही हैसियत (अस्तित्व) मौजूद रह जाती है, मांगने वाला भी गायब होता है ।

भाई, यही कैफियत भिखारी की होना चाहिए । क्या आप समझ सकते हैं कि यह प्याला बिना भरे हुए वापिस हो सकता है । क्या यह सम्भव है कि ऐसे माँगने वाले को मालिक सरशार (निहाल) न कर दे ? अब ऐसे भिखारी की हैसियत (स्थिति) क्या है और मालिक की हैसियत (स्थिति) क्या है । जिस भिखारी को मांगने का ख्याल नहीं और यह भी पता नहीं कि क्या मांग रहा है उसकी हैसियत (स्थिति) इस प्रकार व्यक्त हो सकती है कि मालिक अपने भिखारी को कुछ देने जावे और उस भिखारी को यह खबर न हो कि क्या मिल रहा है । अब न उसे यह पता है कि क्या हैसियत थी और अब क्या है । दोनों मौजूद हैं — मालिक और भिखारी । तमीज (अन्तर) यही है कि भिखारी के हाथ में केवल कासयेगदाई (भिक्षा-पात्र) है, और इस तमीज (अन्तर) का रहना वास्तव में बन्दगी (आराधना) की दलील (चिन्ह) है । यह अन्त तक फकीर से नहीं छूटती ।

ऐसा भिखारी हो और ऐसे मालिक के दरबार में जावे जो कि अपने आपको गुम किये हुए है (खोए हुए है), उसी हालत से उसका भिखारी भी पहुंचे । बस समझ लीजिये कि क्या दौलत उस भिखारी के हिस्से में हो सकती है । इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि कोई चीज बाकी नहीं रह जाती जो उसको पहुंच न गई हो । अब भिखारी की हालत सुनिये । वह इस्तग़ना (आत्म-सन्तोष) में रहने लगता है, जिसको दुनियां का कोई बादशाह अपने ज़र व जवाहरात (स्वर्ण और रत्न भंडार) से खरीद नहीं सकता । मालिक वही दे

चुका जो उसके पास है। नतीजा यही निकलेगा कि भिखारी के पास वही होगा जिसके बाद बड़े बड़े बादशाह और बड़े बड़े औलिया और सन्त रौनक अफरोज (स्थित) होते हैं। किन्तु भाई ऐसे भिखारी तो बनो। ऐसे भिखारी के लिए, यह वाक्य जो इसके ऊपर लिखा गया है, दुनियां की कुल दौलतें हेच (हेय) हैं। इस विषय को समझना सरल हो जायगा यदि प्याले को दिल मान लिया जाय।

(एक अभ्यासी को लिखे गये पत्र से उद्धृत)

भजन

झीनी झीनी बीनी चदरिया ॥
काहे कै ताना काहे कै बाना, कौने तार से बीनी चदरिया ॥
इंगला पिंगला ताना बाना, सुषमन तार से बीनी चदरिया ॥
अष्ट कँवल दल चरखा डोलै, पांच तत्त गुन तीनी चदरिया ॥
साईं को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक के बीनी चदरिया ॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया ॥
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया ॥

—महात्मा कबीर दास

साधना

(कुमारी केसर चतुर्वेदी, एम० ए० एल० टी०)

प्रत्येक कार्य की पूर्ति के लिये चाहे वह बौद्धिक हो अथवा मानसिक, परिश्रम की आवश्यकता होती है। बिना श्रम किये जीवनयापन की सुविधायें प्राप्त नहीं हो सकतीं। चाहे कोई गृही हो या विरक्त, सभी को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये कुछ न कुछ करना ही पड़ता है; अतः जीवन-यापन के लिये किये गये श्रम को परिश्रम की संज्ञा दी जाती है परन्तु मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को बनाये रखने के लिये अथवा आध्यात्मिक-क्षेत्र में उन्नति करने के लिये किये गये श्रम को साधना कहते हैं।

जब मनुष्य ईश्वर की ओर उन्मुख होता है उसमें ईश्वर के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वह 'उसकी' एक झलक पाने व 'उसका' हो जाने के लिये उत्सुक होता है तभी वह अनेक उपायों का प्रश्रय ग्रहण करता है। सद्ग्रन्थों के अध्ययन एवं मनन, और संतों के सदुपदेशों का श्रवण करके वह अपनी जिज्ञासा को शाँत करने का प्रयास करता है तथा जप-तप, ध्यान व चिंतन द्वारा वह अपनी आध्यात्मिक-क्षुधा को शान्त करने की चेष्टा करता है। ईश्वर तक पहुँचने के यही सब उपाय उसे साधना के विशाल भवन में प्रवेश करने का प्रवेश-पत्र देते हैं और तभी उसे साधक की संज्ञा प्रदान की जाती है।

साधना के लिये तीन बातों की नितांत आवश्यकता है। प्रथम साधक, द्वितीय साध्य और तृतीय साध्य तक पहुँचने के लिये किए गये कर्म व प्रयत्न। साध्य ही साधना का केन्द्र है। उसको प्राप्त करने के ही लिये वह विविध उपायों का अवलम्बन लेता है। साध्य ही उसका लक्ष्य होता है और ये विविध उपाय 'उस' तक पहुँचने के निमित्त मात्र। साधक की दृष्टि उपायों पर न हो कर साध्य पर ही रहती है। क्योंकि 'वही' उसका ध्येय है, 'वही' उसका प्राप्य है।

साधना के विभिन्न रूप हैं। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही प्रकार की साधना अपनाये। अपने मनोनुकूल ही साधक साधन चुनता है। यदि एक प्रकार के साधन से उसे शांति नहीं मिलती अथवा उसकी इच्छित वस्तु उसे प्राप्त नहीं होती तो वह दूसरे साधनों को अपनाता है। साधना चुनते समय साधक को पूर्णसावधानी बर्तनी चाहिए क्योंकि व्यर्थ की साधनाओं में अपने शरीर या मन को गलाने से कोई लाभ नहीं। व्यर्थ की साधना से तात्पर्य यह है कि जिन साधनाओं से हमारी मानसिक अथवा शारीरिक शक्ति का ह्रास ही होता है और आत्मिक-शुद्धि नहीं हो पाती। अब प्रश्न यह उठता है कि यह कैसे ज्ञात हो कि आत्मिक-शुद्धि हो रही है या नहीं। यह जानने का केवल

एक ही उपाय है कि हम यह देखते चलें कि हम में ईश्वरीय (दैवी) गुणों (सहानुभूति, करुणा, भ्रातृ-भाव, प्रेम आदि) की वृद्धि हो रही है या नहीं; हममें इन गुणों का विकास हो रहा है या नहीं। श्री कबीरदास जी के शब्दों में—

"निरबैरी, निहकांमता, सांईं सेती नेह।
विषया सूँ न्यारा रहै, संतनि का अंग एह॥"

जब इस प्रकार का संत-स्वभाव बनता जाये तभी समझना चाहिये कि साधना उपयुक्त और फल-दायी है अन्यथा नहीं। वास्तव में साधना का यही फल होना चाहिये।

उपर्युक्त परिणाम की प्राप्ति के लिये साधना की एक निषेधात्मक पद्धति होसकती है, और दूसरी भावात्मक। निषेधात्मक पद्धति के अंतर्गत आसुरी प्रवृत्तियों (द्वेष, मोह, क्रूरता, घृणा आदि) के दमन और उन्मूलन के प्रयास पर बल दिया जाता है। परिणामतः प्रारम्भ में उन पर ध्यान दिए जाने के कारण वह अधिक उग्र रूप धारण करने लगती हैं, और साधना का मार्ग दुर्गम और कष्टसाध्य हो जाता है। हठयोग आदि साधना-पद्धतियाँ इसी प्रकारकी हैं। दूसरी (भावात्मक) पद्धति के अन्तर्गत वास्तविक आसुरी प्रवृत्तियों से लड़ने के प्रयास पर बल नहीं दिया जाता, किन्तु उनकी ओर से ध्यान हटाकर अपने साध्य पर केन्द्रित कर दिया जाता है। आसुरी प्रवृत्तियों की ओर से ध्यान हट जाने पर धीरे २ उनकी शक्ति अपने आप क्षीण होने लगती है, और उनका स्थान उनकी विरोधी प्रवृत्तियां ग्रहण करने लगती हैं। यह राज योग की साधना पद्धति है, जिसमें भक्ति योग को मुख्य स्थान प्राप्त है। हमारे श्री रामचन्द्र मिशन की साधना पद्धति का प्रारम्भ इसी भावात्मक ढङ्ग से अत्यन्त सरल ध्यान से होता है। "जो ईश्वर समस्त विश्व में कण-कण में परिव्याप्त है, वह हृदय में भी है। हम 'उसी' का स्मरण कर रहे हैं।

कबीरदास जी के कथन "एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।" की सार्थकता इस साधना पद्धति में परिलक्षित होती है। वास्तव में चतुर्दिक दृष्टि-निक्षेप से, एक वस्तु पर ध्यान केन्द्रित नहीं हो सकता। ध्यान के केन्द्रीकरण के लिये यह आवश्यक है कि दृष्टि को एकही ओर, एक ही बिन्दु पर रक्खा जावे, तभी उसमें स्थिरता तथा एकाग्रता उत्पन्न हो सकती है। मन के एकाग्र होने पर ही अन्तर में ईश्वरीय गुणों का प्रादुर्भाव होता है और साधक अपने में परिवर्तन पाता है। अगर वह इसी मार्ग पर दृढ़ रहा तो शनैः शनैः बिना किसी प्रकार का दमन किये उसकी इन्द्रियां उसके वशवर्त्ती होती चली जाती हैं। उसे यह आवश्यकता नहीं पड़ती कि क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार आदि मनोविकारों पर विजय प्राप्ति के हेतु वह नाना प्रकार के अभ्यास करे। बस उसे अपने साध्य के सतत स्मरण का अभ्यास करना पड़ता है। उठते-बैठते; चलते-फिरते सोते-जागते साध्य का रूप साधक के नेत्रों में रहना चाहिये। महाकवि सूर के शब्दों में इस दशा का वर्णन इस प्रकार है:—

नाहिन रह्यो हिय में ठौर॥
चलत, चितवत दिवस, जागत, स्वप्न सोवत रात।
हृदय तें वह श्याम मूरति, छिन न इत-उत जात॥

ऐसा ही स्मरण साधक को साध्य के निकटतम लाने में सफल हो सकता है।

इसी से वह साध्य के हृदय में अपने लिये स्थान बना लेता है और साध्य अपनी असीम कृपा व स्नेह से उसे अनेक सद्गुणों से अलंकृत कर उसका जीवन सार्थक कर देता है। साध्य साधक के धन, वस्त्र व विविध वस्तुओं का इच्छुक नहीं रहता और न उसे इन भौतिक पदार्थों की कामना ही रहती है। वह तो केवल साधक का हृदय चाहता है। जिसे अपनी दृष्टि से अपने स्पर्श से 'वह' कलुषरहित कर दे और साधक अपनी वास्तविकता से परिचित हो जाये।

साधना-काल में बहुधा निराशा अपना आँचल फैलाकर साधक को आवृत करने का प्रयास करती है। वास्तव में निराशा साधना-काल के लिये विष है। अतः ऐसे समय में साधक को पूर्ण साधवान एवं सजग रहना चाहिये। इस निराशा के चक्र में फँस कर बहुतेरे साधक साधना छोड़ बैठते हैं परन्तु यह उनकी भूल है। ईश्वर की ओर जाने पर चाहे फिर कैसी ही कठिनाइयां या बाधायें सम्मुख आवें परन्तु हार नहीं माननी चाहिये। यदि साधक ईश्वर का आश्रय लेकर ईश्वर पर पूर्ण विश्वास कर उस हार अथवा निराशा से भी लोहा ले तो उसे निश्चय ही सफलता मिलेगी। ईश्वरीय विश्वास के अमृत को धारण करने से ही इस विष से बचाव हो सकता है अथवा साध्य पर सब कुछ अर्पण कर देने से ही साध्य, साधक की रक्षा का भार ले लेता है और साधक निर्द्वन्द आगे बढ़ता चला जाता है।

अतः साधना वही है जो साधक को अपने साध्य में अपना सब कुछ अर्पण कर देने को विवश कर दे और साधक 'उसको' अपना सब कुछ देकर निश्चिन्ततापूर्वक ईश्वरीय साम्राज्य में अग्रसर होता चला जावे और अंत में 'उसमें' पूर्ण रूप से लय हो जावे।

मनोरंजक सम्वाद

एक दिन समर्थ गुरू से उनके समर्थ शिष्य ने निवेदन किया कि क्या आध्यात्मिकता में आनन्द की स्थिति, जिसे सुरूरे-सरमदी या ब्रह्मानन्द आदि नाम दिये जाते हैं (जिस स्थिति में वे स्वयं थे) यही है जिसकी इतनी प्रशंसा की जाती है ?

समर्थ गुरू ने उत्तर में प्रश्न किया "आजकल जो तुम्हारी स्थिति है, यदि एक क्षण को वह तुमसे हटा ली जाये, तो तुम्हें कैसा लगेगा ?"

शिष्य सोच में पड़ गये। काफी सोचविचार कर उत्तर दिया, "मर जाना स्वीकार है, पर इस स्थिति से हटना मंजूर नहीं।"

गुरू मुस्करा कर मौन हो गये। शिष्य के आनन्द की परिभाषा स्पष्ट हो गई थी।

जिन्दगी में मौत का मजा चखने की दीवानगी

(श्री काशीराम अग्रवाल, तिनसुकिया, आसाम)

पोखरी (तालाब) के किनारे एकान्त में गुमसुम यह कौन बैठा है ? यह भी एक दीवाना है, रात्रि अधिक हो गई फिर भी दीपक जलाए बैठा है। सच है, दीवानों के लिये दिन, रात्रि एक ही समान हो जाते हैं । उसे न खाने की परवाह न सोने की फिक्र, न दुख का पता न सुख का ही पता। फिर भी बेचारे के नेत्रों से अश्रु-धार बड़ी तेजी से बह रही है । यह दीवाना एक गृहस्थ है जो दिन भर अपना घर गृहस्थी का काम करके आया है, और यहाँ एकान्त में अपने दिल का दर्द छिपाये बेहोशी की दशा में बैठा-बैठा संसार का तमाशा देख रहा है कि यह संसार क्या है, मैं कहां आ गया, मैं किससे प्रेम करूं, किसकी पूजा करूं, यह सब क्या स्वप्न देख रहा हूँ, यह सब झूठा खेल है, यह घर वास्तविक घर नहीं है, यह कौन बोल रहा है, मैं किससे बातें करता हूँ। यह सब संसार उसे मृत दिख रहा है, जिसकी तरफ भी बेचारा निगाह भर कर देखता है उसे मृत ही दिखाई देता है, इसलिये मुख बन्द है और अश्रुधार अपने आप को कहां आ गया देखकर वेग पूर्वक प्रवाहित होने लगती है। सामने मन्दिर में एक भाई को जाते देखा। उसने घंटी बजाई, जल चढ़ाया, मूर्ति को चन्दन लगाया और चल पड़ा। दीवाना यह दृश्य देखकर सहम गया। हृदय तड़प रहा था कि मैं भी पूजा करूँ। मगर उससे ऐसी पूजा नहीं हो पाती, वह केवल तड़पना जानता है, विरह की अग्नि में जलना जानता है और अपने जीवन पर विचार करना जानता है। ऐसा ही दीवाना बाधाओं को चीरता हुआ, तूफानों से गुजरता हुआ निर्भय होकर अपने पथ-प्रदर्शक के प्रति पूर्ण श्रद्धा विश्वास से युक्त होकर अध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है।

जो भाई दीवाना बनना नहीं चाहते, वह यही कह देते हैं कि आज के संसार में सच्चे पथ-प्रदर्शक कहां हैं। अगर होंगे भी तो जंगलों में होंगे। किन्तु इस श्रेणी के भाई चलना नहीं चाहते। केवल कह देना मात्र जानते हैं कि आज के संसार में सच्चा महात्मा नहीं है। यह दुनियां उन्हें घृणित लगने लगती है, और द्वन्द की अग्नि में जलते रहते हैं। मगर संसार खराब नहीं है; हमारी निगाहें खराब हैं। ऊपर जैसी दीवानगी का चित्र दिया गया है, वह प्राप्त होने पर संसार बुरा नहीं लगता। ऐसा दीवाना तो घर गृहस्थी का सब काम करता हुआ दुनियां की भली बुरी बातों को अनसुनी करता हुआ आगे बढ़ता ही जाता है। कोई भला कहता है तब भी उसे परवाह नहीं कि किसे कौन भला कहता है; बुरा कहता है तब भी परवाह नहीं। हर हालत में मतवाला बना रहता है। वह चाहे घर-घर का मेहमान बन जावे या दर-दर का भिखारी एक ही दशा बनी रहती है, इस दशा में यह संसार ऐसा लगता है जैसे एक दूकानदार अपने सामने रक्खे हुये मन, सेर और छटाँक के

बांटों को समदृष्टि से देखता है। उसे एक मन वाला बांट अधिक प्यारा नहीं होता, और उसे एक छटाँक वाले बांट से घृणा नहीं होती। समदृष्टि इस लिये बनी रहती है कि अपनी-अपनी जगह सब एक सा ही काम देते हैं। यही हाल दीवाने का आगे चल कर हो जाता है। उसके लिए अमीर, ग़रीब, छोटे बड़े सब एक ही जैसे हो जाते हैं।

अब हम दीवानों के जीवन से यह शिक्षा ले सकते हैं कि संसार खराब नहीं है, और सच्चे पथप्रदर्शक नहीं हैं-ऐसी बात भी नहीं है। किन्तु हमारी निगाहें जीवन की असलियत तक नहीं पहुँच पातीं। और इसी अज्ञानता के कारण हमें दुख सताते हैं। इस निगाह की एकाग्रता के लिए, खराब दृष्टि को शुद्ध बनाने के लिए, एक रस बनने के लिए मन की एकाग्रता के लिये ही अभ्यास की और सच्चे पथ प्रदर्शक की आवश्यकता है। अब प्रश्न उठता है, अभ्यास और पूजा कैसे और क्या करें। यह बातें पथ-प्रदर्शक ही बता सकता है। किन्तु सच्चे पथ-प्रदर्शक के सामने पहुँच जाने पर भी उसे पहचानना और उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होना बहुधा कठिन होता है, जिसके कारण आध्यात्मिक लाभ से वंचित हो जाना पड़ता है।

यह कहना भी सत्य ही है कि मनुष्य शरीर में आई हुई महान आत्मा को पहचानना अत्यन्त कठिन है। यह कोई नई बात नहीं। कृष्ण भगवान तक को अर्जुन जैसे व्यक्ति की आँखें भी न पहचान सकीं, जो कृष्ण भगवान के आदेशों का सच्चे हृदय से पालन करने वाले थे; और अर्जुन का अविश्वास मिटाने के लिये उन्हें विराट रूप दिखाना पड़ा। कृष्ण भगवान ने आध्यात्मिक कार्य दुनियांदारी के रंग में रंग कर किये, जिससे कि बाद में दुनियां असम्भव-असम्भव पुकार कर उनके पथ पर चलने से भय न करे। यही हाल संत कबीर का था। अपने समय में लोग उन्हें जुलाहा समझकर ढोंगी कहते थे, और गालियां देते थे, किन्तु आज उनकी वाणियों पर संसार मस्तक झुकाता है और सिर धुनता है कि उनका सम्पर्क न प्राप्त हो सका। संत कबीर और भगवान कृष्ण जैसी महान आत्मायें मनुष्य शरीर में ही आती हैं, और इसी संसार में रहकर इसी माया से बहुत बड़े-बड़े काम लेती हैं, जिसे हम बुरा पुकारते रहते हैं। वे स्थूल शरीर से साधारण मनुष्य की ही भाँति काम करती हैं, और सूक्ष्म शरीर से सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त रहती हैं।

अब प्रश्न उठता है कि हमारे जीवन का कल्याण कैसे हो। इसके लिए महान आत्माओं से प्रेरणा हमेशा मिलती रहती है, किन्तु हम उनकी आवाज को अपने हृदयों में स्थान इसलिए नहीं दे पाते कि उनपर विश्वास नहीं होता क्योंकि वह महान आत्मायें भी हमारे जैसे मनुष्य शरीर में होती हैं और देखने में हममें और उनमें कोई अन्तर नहीं मालूम होता। विश्वास और अविश्वास दोनों ही बहुधा अन्धे होते हैं। अन्धे अविश्वास के कारण संसार हमें बुरा दिखाई देता है और जीवन निराशा का समुद्र बन जाता है। सच बात तो यह है कि जिसने अपने नेत्रों पर जैसे रंग का चश्मा चढ़ा लिया उसे संसार वैसा ही दिखने लगा। उसका सच्चा स्वरूप तो तब देख सकेंगे जबकि कोई इस रहस्य का जानने वाला हमारी आंखों से चश्मा उतार कर यह दिखा दे

कि यह संसार न हरा है न पीला है, किन्तु ऐसा है। तब वहाँ रंग नहीं रहता और असली रूप दिखाई पड़ने लगता है।

जीवन के सच्चे स्वरूप को जानने वाले और हमारी आंखों पर से रंगीन चश्मा उतार सकने की योग्यता रखने वाले सच्चे पथप्रदर्शक को प्राप्त करने की तड़प तब पैदा होती है, जब हम अपनी छोटी सी स्वप्न जैसी जिन्दगी पर विचार करते हैं। और हमारी सच्ची तड़प और बेचैनी हमें सच्चे पथ-प्रदर्शक के चरणों तक पहुँचा देगी। यह कहावत बिल्कुल सत्य है कि "जिन खोजा तिन पाइयाँ।" जब सच्चा पथ-प्रदर्शक मिल गया, और हमने उसे अपने को दे डाला तो फिर जीवन की समस्या का सुलझाव और हमारा परम कल्याण होना निश्चित है। सच्चे पथप्रदर्शक के आदेशों का पालन करते हुये पथ पर चलते रहने से कभी तो किनारा अवश्य ही आवेगा। एक बात और है। स्वयं की शक्ति पहाड़ की चट्टानों को काटकर रास्ता नहीं बना सकती उसके लिए ऊपरी ताकत की आवश्यकता होती है। चट्टानों को काट कर रास्ता तो परिश्रम से ही बनाया जाता है, मगर सहज-मार्ग के पथ पर चलने के लिए परिश्रम केवल इतना ही करना पड़ता है कि अपने सद्गुरु के के प्रति श्रद्धा विश्वास पैदा करके आत्मसमर्पण कर दे। बहुत से भाई राम, कृष्ण, विष्णु आदि के झूठे झगड़ों में फँसकर सच्चे लक्ष्य को भुला बैठते हैं, और वास्तविक पूजा के रास्ते से अलग हट जाते हैं। उनका झगड़ा उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार दो विद्यार्थी कहीं मिलें, जिनमें से एक विद्यार्थी ने अपनी पुस्तक में 'क' माने कबूतर पढ़ा हो और दूसरे ने 'क' माने कौआ पढ़ा हो और दोनों आपस में झगड़ें। एक कहता है 'क' माने कबूतर दूसरा कहता है नहीं 'क' माने कौआ। दोनों की बातें ठीक हैं। लेकिन अभी तक उनके ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। उन्हें बड़ी से बड़ी पुस्तकें देदी जावें, उनमें उनकी दृष्टि से कबूतर और कौए ही पाये जावेंगे। यही हाल उन भाइयों का है जो राम, कृष्ण, विष्णु के झगड़ों में पड़ जाते हैं। एक कहता है ईश्वर राम है, दूसरा कहता है नहीं कृष्ण ईश्वर है। अब देखा जाय तो 'क' माने न कबूतर है न कौआ है, वह तो स्मरण रखने के लिये सहारा मात्र था। जिससे कौए की तस्वीर देखकर अक्षर को याद रख सकें। उसी प्रकार विष्णु या कृष्ण के माने ईश्वर नहीं। यह तो आरंभ में एक सहारा लेने के लिए होता है। अब हम समझ सके कि 'क' माने न कौआ है न कबूतर, वह दोनों से परे है जिसका कोई रूप नहीं। वह जहां लगा दिय जायगा वहीं वैसा ही काम करने लगेगा। अब 'क' एक होते हुये भी संसार की तमाम पुस्तकों में चाहे कैसी भी क्यों न हों हर जगह समाया हुआ है। उसी प्रकार वह ईश्वर कृष्ण, राम, विष्णु से भी परे है जो सब जगह रमा हुआ है और वह एक है। अब प्रश्न उठता है कि 'क' माने कबूतर समझने वाला 'क' का असली रूप कैसे समझ सकेगा। उसके लिये अपने गुरु के आदेशों पर तन-मन से चलना होगा; और इस प्रकार आगे वह 'क' का असली रूप देख एवं समझ सकेगा। लेकिन बिना गुरु के स्वयं असली रूप नहीं देख सकेगा। यही कारण है कि जो लड़का अपने गुरु पर जितनी अधिक श्रद्धा

रखकर आज्ञा पालन करता है, वह उतनी शीघ्र ऊँचे दरजों में उन्नति करता जाता है। यही हाल आध्यात्मिकता का है कि अभ्यासी श्रद्धा विश्वास पूर्वक अपने गुरू के आदेशों पर चलता हुआ ऊँची से ऊँची मन्जिलें पार करता जाता है। विष्णु, कृष्ण आदि के रास्ते से गुजारता हुआ जब गुरू उसे आगे बढ़ाता है तब उसकी यह दशा हो जाती है कि चलना ही चलना जानता है रुकना नहीं। अब उसे इस झूठे स्वप्न से प्रयोजन नहीं रहता। वह सब वस्तुओं को नाशवान क्षण भंगुर समझने लगता है, सबको मौत के मुख में देखता है, कोई भी ऐसा नजर नहीं आता जो जिन्दा हो, सब मरे हुये ही लगते हैं। ऐसे अभ्यासी का यह हाल होता है कि कागज के फूलों में इत्र डालकर सूँघना नहीं चाहता, वह तो असली पुष्पों की महक से प्रेम रखता है। वही अपने को पापी समझने वाला जो जहर खा कर मर जाना चाहता था आत्मसमर्पण करने के बाद निर्भय हो जाता है। वह विश्वासपूर्वक कहता है "माना कि मैं महापापी हूं, मेरे कर्म बुरे हैं, लेकिन मैं अब निर्भय हूँ और पूर्ण विश्वास है कि जब बड़े-बड़े पापी तर गये फिर हमें क्यों चरणों में स्थान न देंगे। महा पतित भी क्षण मात्र में तर गये। हमारी दर्दभरी सच्ची प्रार्थना वह अवश्य ही सुनेंगे।" मगर आगे चलने पर उसका यह हाल हो जाता है कि सुनने वाला भी अपना ही स्वरूप दिखाई देता है। पर्दा हट जाने के बाद वह देखता है कि सुनने वाला भी नहीं और सुनाने वाला भी नहीं; एक ही रह जाता है। वहाँ पहुँचकर ज्ञानियों का ज्ञान शेष नहीं रह पाता, उपदेशकों के उपदेश की जरूरत नहीं रहती। वह तो केवल अपने प्रियतम का दीवाना होता है। दीवाना बनने के बाद यह हाल हो जाता है कि चाहे सब चीजें नष्ट हो जायें चाहे उसे डंडों से पीटा जाये, भला-बुरा कहा जाये, दुनियाँ उसे घृणा की दृष्टि से देखे, मगर हंसता हुआ अपने सद्गुरू के आदेशों पर दीवाना होकर चलता है और संसार की बातों पर ध्यान नहीं देता, यद्यपि संसार से उसे घृणा नहीं होती। वास्तव में ऐसा दीवाना जिन्दा ही मरा हुआ होता है, और मौत के बाद आने वाली जिन्दगी का मजा चखता रहता है।

मनोरंजक सम्वाद

एक सच्चे जिज्ञासु के हृदय में ईश्वर प्राप्ति की तड़प थी। वह बार-बार घर छोड़ कर साधु महात्माओं के साथ जंगलों में भाग जाता था। उसके माता-पिता अत्यन्त चिन्तित थे। उन्होंने गुरुदेव को इस विषय में पत्र लिखा।

गुरू ने जिज्ञासु को पत्र लिखा; "वत्स, ईश्वर प्राप्ति की सच्ची तड़प तुममें मौजूद है, किन्तु ईश्वर को तुमने जंगलों का निवासी समझ रक्खा है। तभी तो उसे जंगल में खोजना चाहते हो। बन को घर बनाने के बजाय घर को बन क्यों नहीं बना लेते।"

बात जिज्ञासु की समझ में आ गई, और उसकी भाग-दौड़ समाप्त हो गई।

प्रियतम की याद

(स्वर्गीय श्री मदन मोहन लाल जी, बदायूं-उत्तर प्रदेश)

दिल की हर करवट में पोशीदा[1] ख़याले-यार था।
हिज्र[2] में हासिल हमें लुत्फ़े-विसाले[3]-यार था ॥१॥

जामे[4]-जम और सागरे[5]-साक़ी से क्या निस्बत[6] भला।
उसमें दुनियां थी नुमायाँ[7], यां जमाले[8]-यार था ॥२॥

बेकसी[9], यासो[10], ग़मों, फ़ुरक़त[11], जुनूँ[12], दर्दो, अलम[13]।
सात पर्दों में निहां[14] लुत्फ़े-विसाले-यार था ॥३॥

रोज़े-महशर[15] पास सबके नामये-एमाल[16] था।
जिन्दगी भर का सफ़ीना[17] यों ख़याले-यार था ॥४॥

मरहबा[18], मक़तल[19] में भी निकला न हर्फ़े-मुद्दआ[20]।
मर्गे-बेहंगाम[21] से बढ़ कर ख़याले-यार था ॥५॥

दिल की क़िस्मत में अनासिर[22], इब्तदा[23] से यार थे।
बेकसी थी, यास था, ग़म था, ख़याले-यार था ॥६॥

मुश्किलें आसान सारी नज़अ[24] में होती गईं।
वाह वा क्या मोजज़ा[25] बिस्मिल ख़याले यार था ॥७॥

१-छिपा हुआ, २-विरह, ३-प्रियतम से मिलन का आनन्द, ४-जमशेद बादशाह का प्याला जिसमें वह सारे संसार का चित्र स्पष्ट देखा करता था, ५-शराब पिलाने वाले प्रियतम का प्याला, ६-तुलना, सुस्पष्ट, ८-सौंदर्य, ९-बेचारगी, १०-निराशा, ११-विरह, १२-पागलपन, १३-रंज, १४-छिपा हुआ, १५-प्रलय का दिन, जिस दिन सभी के कर्मों का हिसाब होगा, १६-कर्मों की सूची, १७-सामान, १८-शाबाश, १९-क़तल होने का स्थान, २०-इच्छाओं को व्यक्त करने वाला शब्द, २१-शान्त मृत्यु, २२-तत्व, २३, प्रारम्भ, २४-मृत्यु से कुछ क्षण पूर्व की स्थिति, २५-जादू।

*अभ्यासी के अनुभव

(एक अभ्यासी → श्री ईश्वर सहाय जी

मेरी आयु का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा बीता जिसमें मुझे अपने अस्तित्व का अधिक सम्बन्ध ईश्वर से किसी तरह भी अनुभव नहीं हुआ। ईश्वर का नाम सुनता तो चला आता था और यह भी ख्याल होता था कि यह कोई बड़ी शक्ति ऐसी है जो हमको रंज और तकलीफ से बचा सकती है। बहुधा परेशानियों और सांसारिक झमेलों के समय प्रार्थना के तौर पर तबियत उस तरफ कुछ रुजू भी हो जाती थी। किन्तु केवल थोड़ी देर के लिए और वह भी केवल अपनी गरज से। उम्र बढ़ने के साथ-साथ सांसारिक उत्तरदायित्व में भी बढ़ती होती गई और उसी अन्दाज से फिक्र और उलझनें भी बढ़ती गईं। अतएव दिन पर दिन परेशानियों और तकलीफों का सामना भी रहने लगा। परिणाम यह हुआ कि दिल ईश्वरीय शक्ति की ओर अधिक रुजू होने लगा। विचार उठने लगे कि पूजा, उपासना को भी दैनिक जीवन में स्थान देना आवश्यक है। और उसकी तरकीबें दिमाग में घूमने लगीं। पूजा, उपासना के तरीके जो अब तक देखने में आए थे दिमाग में चक्कर काटने लगे। ठाकुर जी की पूजा-आरती, नहलाना धुलाना, भोग लगाना इत्यादि मुझे गुड़ियों का खेल ही मालूम पड़ता था, इसलिये उस ओर तबियत कभी न जा सकी। किन्तु जप, पाठ इत्यादि पर कुछ विश्वास जरूर जमता था। इसके आगे मैं कुछ जानता ही न था, अतएव उसी से प्रारम्भ हुआ।

तकलीफ से बचना तो ध्येय था ही और सुन भी रखा था कि हनूमान जी संकटमोचन कहे जाते हैं। अतएव मंगल के दिन व्रत और हनूमान-चालीसा का पाठ शुरू कर दिया। कुछ दिनों बाद कदम और आगे बढ़ा और जप मन ही मन बहुधा और अधिकाधिक करने लगा। होते-होते स्वप्न में भी वही दृश्य दिखाई देने लगे। मैं खुश था कि उन्नति की राह पर हूँ। किन्तु यह सब होते हुए भी दिल में शान्ति और सुकून का पता नहीं मिलता था, बल्कि एक बात और पैदा होगई वह यह थी कि पूजा में अगर बच्चों या अन्य घर वालों के द्वारा कोई विघ्न पड़ जाता था तो बहुत गुस्सा आता था। जैसे-जैसे पूजा बढ़ती गई गुस्सा

---

*अनेक अभ्यासियों के सुझावों के परिणाम स्वरूप 'सहज मार्ग' में 'अभ्यासी के अनुभव' नाम का एक स्थायी कालम रखने का निश्चय किया गया है। इस कालम में हमारी साधना-पद्धति के अभ्यासियों के व्यक्तिगत अनुभव प्रकाशित किये जावेंगे। इन व्यक्तिगत अनुभव से सम्बन्धित लेखों में विशेष बल अपनी साधना-पद्धति की विशेषताओं के विवेचन और प्रकाशन पर ही रहना चाहिए। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, और व्यक्तिगत अनुभव पूरक लेखों में अचेतन रूप से आ जाने वाली आत्म-प्रशंसा की प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखने के अभिप्राय से इस कालम में प्रकाशित लेखों के लेखक अभ्यासियों के नाम प्रकाशित नहीं किये जायेंगे। —सम्पादक

भी बढ़ता गया। बहुधा इस बात पर निगाह जाने पर निराशा होने लगती थी और खयाल आता था कि यह सब बेकार है यदि मन से विकार दूर होकर शान्ति का अनुभव नहीं होता।

वास्तव में मेरी हालत का सारांश बस यही था कि किसी बात के लिये आन्तरिक तौर पर परेशान अवश्य था। किन्तु वह बात क्या थी इसका मुझे बिल्कुल ज्ञान न था। तरीके जो अपनाये वह भी सन्तोषजनक न मालूम हुए और मन में शान्ति और सुकून का एहसास बिल्कुल न होता था। आखिर एक दिन ऐसा हुआ कि स्वर्गीय श्री रामेश्वरप्रसाद जी मिश्र (जो कि हमारे मिशन के एक महत्वपूर्ण व्यक्ति थे और जिनसे मेरा बहुत मेल जोल और निकट के सम्बन्ध थे) के कहने पर मैं उनके साथ उनके मकान पर गया और बहुत देर बातें होती रहीं। पूजा पाठ के बारे में जो कुछ उलझे ख्यालात मेरे दिल में थे वह मानों अपने आप हल होने लगे। मैं बड़े शौक से उनकी बातें सुनता रहा। आखिर उन्होंने मुझे अपने साथ ध्यान में बिठाया और मिशन के तरीके के अनुसार खुद प्राणाहुति द्वारा मेरी सहायता करने लगे। मेरा ध्यान खूब लगा, जैसा कि अब तक कभी न लगा था। दिल ने बिना सोचे समझे स्वीकार कर लिया कि सही रास्ता यही है। तबियत में बड़ी खुशी और इत्मीनान हो गया। बहुधा मैं उनके पास जाता रहा और सहायता लेता रहा। इसके बाद कुछ और सज्जनों से सम्बन्ध रहा जो इसी तरह के मिलते जुलते ढंग से अभ्यासी की सहायता करते थे। मैं उसी उत्साह और शौक से उन सब से भी रुजू रहने लगा और इसको श्री मिश्र जी ने कभी मना भी न किया। आखिर कुछ महीने की सोहबत से मुझे उनके वैयक्तिक स्वार्थ और लोभ आदि की झलक भी दिखाई पड़ने लगी तो दिल हटने लगा। पहले तो मैं इसको अपने विश्वास की कमी से सम्बद्ध करते हुए अपनी ही खता समझता रहा किन्तु घटनायें दिन पर दिन खुलती ही चली गईं और सन्देह के लिये स्थान न रहा। मेरी तबियत उन लोगों की तरफ से फिरने लगी और यह उन महानुभावों की अप्रसन्नता का कारण होगया।

सन् १९४४ के आखिर में मैं स्वर्गीय पंडित जी के साथ पहली बार हज़रत क़िबला (मिशन के वर्तमान अध्यक्ष) की खिदमत में हाजिर हुआ। यह मेरे जीवन में विशेष महत्व का दिन है। वहां पहुँच कर मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि अब मैं ठिकाने पर पहुँच गया हूँ, मेरी दौड़ धूप खत्म हो गई और मैं एक बच्चे के समान उम्मीद की निगाह लगाये हुए किसी चीज को तक रहा हूं। किन्तु यह सब बातें उस समय स्पष्ट रूप से मेरी समझ में नहीं आईं। तबियत में शांति और सन्तोष अवश्य था। कुछ देर इधर-उधर की बातें और मिज़ाजपुरसी के बाद मैं वापिस आ गया। रास्ते में भी अजीब हालत रही। मैं न कुछ कह सका और न पूछ सका। अभ्यास पहले की ही भांति पंडित जी की सहायता से करता रहा, किन्तु हज़रत क़िबला की खिदमत में हाजिर होने के लिए तबियत उभरती रही और कभी कभी हाजिर भी होता रहा।

इसी तरह छै महीने बीत गये। आखिर एक

दिन आपने फरमाया। "अच्छा, आज आप मेरे साथ पूजा में बैठिये"। मैं निहायत खुशी के साथ तैयार हो गया। ऐसा मालूम हुआ कि मेरा दिल इसी के लिए तड़प रहा था। आपने ध्यान में बिठाया। मैं भांति २ की आकांक्षाएं लिए हुए उस सरचश्म-ए-फ़ैज के चरणों में ध्यान लगाए बैठा रहा। तेजी, उभार और जोश जो कि अब तक आकर्षक मालूम होते थे कुछ भी अनुभव में न आए। एक विचित्र प्रकार की आन्तरिक खामोशी शांति और हल्कापन मालूम हुआ, और उसकी तरफ दिल अपने आप खिंचने लगा। दिल ने स्वीकार कर लिया कि बस यही चीज है। यद्यपि मैं उस समय इसको स्पष्ट रूप से समझ भी न सका। हृदय का तूफान मौन हो गया, और निगाह टिक कर रह गई, जैसे कि ठिकाना मिल गया। यह घटना सन् १९४५ की जनवरी की है। इसके बाद मेरी आध्यात्मिक शिक्षा विधिवत् जारी हो गई और मैं आदेशानुसार अभ्यास करता रहा।

मुझे यह भी मालूम हो गया कि जिस रास्ते पर मैंने क़दम रखा है, राजयोग का रास्ता है। योग के बारे में थोड़ा बहुत मैं पहले भी सुन चुका था किन्तु योग का नक्शा जो दिल में बैठा हुआ था अत्यन्त डरावना मालूम होता था। घरबार छोड़ कर जंगली जीवन अपनाना और अत्यन्त कठिन शारीरिक और मानसिक साधनों का अभ्यास करना अपने लिए नितांत असम्भव समझता था। अतएव योग का दरवाजा मैं अपने लिए बिल्कुल बन्द ही समझता था। किन्तु सहज मार्ग के सीधे और सरल साधनों को देख कर उम्मीद बंधने लगी साथ ही साथ यह विचार भी हृदय में स्थान बनाने लगा कि अब आयु की दृष्टि से न इतना समय है और न शक्ति कि इस लम्बे सफर को पूरा कर सकूं। यह निराशा का नक्शा दिल को तड़पा देता था। आखिर एक दिन आन्तरिक आवेगों से विवश हो कर निराशा पूर्वक मैंने अर्ज किया कि मेरी आयु अब ४७ वर्ष की हो गई अब न इतना समय है और न इतनी शक्ति कि आवश्यक साधनों का पालन विधिवत कर सकूँ। बस आप ही के सहारे पर हूं जैसा चाहें बना लें। इस भरे हुऐ दिल की आवाज का असर जो कुछ भी हुआ हो आपने मेरी ओर दृष्टिपात करते हुए फरमाया, "यह आप क्या कह रहे हैं? देखिये, आपके पिंड देश के पांचों मुकामात जाग्रत अवस्था में हैं।" निगाह करने पर अन्दर अजीब हालत महसूस हुई। आनन्द और नशे की विचित्र स्थिति छाई हुई थी। अक्ल हैरान थी कि निमिष मात्र में यह क्या हो गया। यदि चमत्कार नहीं तो और क्या कहा जाय जबान खामोश होगई कुछ कह न सका, हृदय एकदम पवित्र चरणों में झुक गया। आध्यात्मिक शिक्षा आरम्भ होने के बाद यह पहला ही अवसर आपसे मिलने का नसीब हुआ था जिसने निमिष मात्र में उन आध्यात्मिक स्थितियों से परिचित करा दिया जिनका अन्य साधनों से प्राप्त करना मुद्दतों का काम था।

इसके बाद दूसरी बार आप से मिलने का अवसर मई सन् १९४५ में हुआ, और एक सप्ताह तक खिदमत में हाजिर रहा। इस अर्से में फैज की बाढ़ जारी रही और भाँति-भाँति के तजल्लियात व अनवार का निरीक्षण करता हुआ आपकी दया व कृपा से आगे बढ़ता गया। चलने से पहले आपने

यह आज्ञा भी दी कि आवश्यकतानुसार प्राणाहुति द्वारा दूसरों की सहायता कर सकूं। यह आपकी ही महान कृपा थी कि इस थोड़े समय में इस योग्य बनाने का कष्ट उठाया। यहां पर यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह हद नहीं है, वास्तव में यह तो प्रारम्भ ही है। किनारा अभी कोंसों दूर है जिसके लिये दूसरों की सहायता के साथ साथ अपनी भी आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रयत्न यथावत जारी रहता है। अन्त में अपने अनुभव का सारांश यही समझ में आता है कि सहज मार्ग के द्वारा आध्यात्मिक सफर में समय का सवाल बिल्कुल नहीं उठता। जो परिणाम वर्षों की लगातार मेहनत के बाद भी प्राप्त नहीं हो पाते उनका हासिल कर लेना मिनटों का काम है यदि वास्तव में सच्ची लगन और पक्का विश्वास हो।

अभिलाषा

(श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, लखीमपुर खीरी उ० प्र०)

अपने भुवन रूप पद-रज में,
मेरा भाल झुका दो,
सुरभि बना निज चरणाम्बुज में,
देव ! मुझे अपना लो ॥ १ ॥
फिर जो त्रस्त, दुखी, दुर्गन्धित,
उसे लिपट कर सुखी, सुगन्धित,
कर पाने की शक्ति समन्वित,
कर के मुझे उठा लो ॥ २ ॥
और पवन के समीताल पर,
गूँजे मम नर्तन झंकार,
डूबे जब मतवाला होकर,
पा ऐसा सुख पारावार ॥ ३ ॥
सतत खिले, ओ कमल चिरन्तन !
मुझे बना निज लघु पराग-कण
करने को निज महिमा-गायन,
किसी जगह बिखरा दो ॥ ४ ॥

समाज में धर्म और अध्यात्म का प्रकृत और विकृत रूप

(श्री रघुनन्दन प्रसाद 'इन्द्र', लखीमपुर खीरी)

धर्म एक बड़ा व्यापक शब्द है और इसका प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। इसलिए जब हम धर्म के विषय में कोई चर्चा करें तो हमको स्पष्ट-रूप से यह समझ लेना चाहिये कि हम किस अर्थ में उसका व्यवहार कर रहे हैं।

जो किसी वस्तु को धारण करता है वही उसका धर्म है। आग का धर्म जलाना है, पानी का धर्म शीतल करना है। यदि आग न जला सके तो वह आग नहीं है, यदि पानी ठण्डा न कर सके तो वह पानी नहीं है। अपने धर्म के बिना वह वस्तु वह वस्तु ही नहीं रह जाती इस अर्थ में धर्म प्रत्येक के अस्तित्व का आधार-भूत नियम हैं, उसका सार-तत्व है।

यह धर्म का योगिक अर्थ है, और बहुत व्यापक है। मनुष्य धनी और निर्धन हो सकता है, सुखी और दुःखी हो सकता है, विद्वान और मूर्ख हो सकता है। परन्तु धन, सुख और विद्या उसके अस्तित्व का सार-तत्व नहीं है। इसलिये वह मनुष्य विशेष के गुण हो सकते हैं, मनुष्य साधारण का स्वभाव नहीं है। मनुष्य का स्वभाव उसकी मनुष्यता है। इसलिये मनुष्यता ही मनुष्य का धर्म है। जो गुण संयोग और वियोग आदि कारणों से प्रकट होते हैं वह धर्म नहीं हो सकते। इसलिये धर्म और स्वभाव एक ही वस्तु है। और धर्म से इन अर्थों में वही वस्तु इङ्गित होती है जो न्याय-शास्त्र में लक्षण से, लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का दोष नहीं होना चाहिये, धर्म में भी अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का दोष नहीं होना चाहिये।

परन्तु इस योगिक अर्थ के अतिरिक्त धर्म के और भी ऐसे व्यवहारिक अर्थ हैं, जो इतने व्यापक नहीं हैं। बहुधा जब हम धर्म शब्द का प्रयोग करते हैं, हमारा अभिप्राय इन्हीं सङ्कुचित अर्थों से होता है।

मनुस्मृति को हम धर्मशास्त्र का ग्रन्थ मानते हैं। यहाँ धर्म का अर्थ क़ानून से है। इस दृष्टि से जो बात ग़ैरकानूनी और अवैधानिक है वह अधर्म है। आचार शास्त्र में धर्म का अर्थ है कर्त्तव्यों का वह समूह जो व्यक्ति विशेष को स्थिति विशेष में पालन करने चाहिये। चोरी नहीं करनी चाहिये, झूठ नहीं बोलना चाहिये, हिंसा नहीं करनी चाहिए। यह सब सदाचार के कर्त्तव्य है, इसलिए इन को धर्म कहा जाता है।

धर्म का एक और अर्थ भी है। हम कहते हैं कि ईसाई धर्म है, इसलाम धर्म है, यहूदी धर्म है। यहां धर्म का अर्थ किसी जन-समूह के विश्वासों का सम्मुच्चय होता है। यहाँ धर्म और साम्प्रदायिकता दोनों लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। धर्म का यह अर्थ ही अनर्थ की जड़ है। इस अर्थ में मनुष्य अपने विश्वासों को तो धर्म मानता है, और दूसरों के विश्वासों को अधर्म कहता है। और बलात् अपने विश्वास दूसरों से स्वीकार कराना चाहता है, इसके लिये रक्त-पात करता है, लड़ाइयां लड़ता है, और जब उन लड़ाइयां में मारा जाता है, तो समझता है कि वह शहीद-पद को

प्राप्त हो गया।

प्रत्येक साम्प्रदायिक धर्म के अपने अपने अलग विश्वास होते हैं। और इनमें से बहुत से विचार ऐसे भी होते हैं, जो बुद्धि और तर्क अथवा विज्ञान की तुला में तौलने पर ठीक नहीं उतरते। परन्तु अपनी साम्प्रदायिकता में निष्ठ लोग उन विश्वासों का परित्याग भी नहीं करना चाहते। यदि वह विश्वासों को छोड़ दें तो वह ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्होंने कोई सार वस्तु छोड़ दी है। ऐसे लोग बड़े अनुदार असहिष्णु और रूढ़िवादी होते हैं, और रूढ़ियों को ही धर्म का तत्व, सार और प्राण समझते हैं।

यदि इन लोगों से यह कहा जाता है कि तुम्हारे विश्वास की सिद्धि बुद्धि, तर्क और विज्ञान से नहीं होती है, तो यह लोग उत्तर यह देते हैं कि विश्वास वास्तव में बुद्धि, तर्क और विज्ञान सब से बड़ा है, विश्वास में बड़ा बल है, विश्वास ही वास्तविक ज्ञान का साधन और आधार है। बुद्धि की शक्ति तो सीमित है, विश्वास असीम है; तर्क धोखे की टट्टी है, जो मनुष्य उसको स्थूल भूमि समझ कर उस पर पांव रखता है; वह शीघ्र ही अधार्मिकता के गढ़े में गिर कर नष्ट हो जाता है, विज्ञान के विषय में यह लोग यह कहते हैं कि उसके सिद्धान्त बदलते रहते हैं, कभी न्यूटन ने कुछ कहा था और उसके बाद आइनिस्टाइन ने आकर कह दिया कि वह सब भ्रमात्मक है है। ऐसी दशा में जब वैज्ञानिकों में ही विज्ञान के विषय में इतना विरोध है तो उन पर भरोसा कैसे किया जाय।

इन युक्तियों में कुछ न कुछ सत्य का अंश अवश्य है। यह मानना पड़ेगा कि बुद्धि, तर्क और विज्ञान की साक्षी कभी कभी भ्रमपूर्ण हो सकती है। इन तीनों में से कोई भी पूर्ण नहीं है। परन्तु इस भ्रम को दूर करने का साधन विश्वास नहीं है। बुद्धि, तर्क और विज्ञान से उत्पन्न हुये भ्रम बुद्धि तर्क और विज्ञान ही से दूर होते हैं, केवल विश्वास से नहीं। इस साधारण सी बात को यह रूढ़िवादी भूल जाते हैं।

विश्वास में बल है। यह बात ठीक है। परन्तु वह बल सत्य-विश्वास में है, अन्ध विश्वास में नहीं अन्ध-विश्वास का बल तो उसी प्रकार क्षीण होता जाता है, जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धेरा।

सत्य जिज्ञासा के सामने सदैव ही मिथ्या-विश्वासों की पराजय होती आयी है। यदि ऐसा न हुआ होता तो एक धर्म के बाद दूसरा धर्म आता ही क्यों। हजरत मूसा का यहूदी धर्म, और उनकी तौरियत पर्य्याप्त थे, हजरत ईसा और बाइबिल की आवश्यकता ही क्या थी, और इसी प्रकार हजरत ईसा और बाइबिल के होते हुए हजरत मुहम्मद और कुरान की भी कोई आवश्यकता नहीं थी।

अतः वैयक्तिक या सामूहिक विश्वास के आधार पर सत्य और असत्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। उसके लिये कसौटी कोई दूसरी ही होनी चाहिये। विश्वास यदि वह सत्य-जिज्ञासा का विरोधी है तो वह स्वयं नष्ट हो जाता है। मनुष्य की आत्मा को सत्य की उपेक्षा करके विश्वास के कच्चे धागे से बांध कर नहीं रखा जा सकता है। इतिहास में जहाँ कहीं भी ऐसा प्रयत्न हुआ है चाहे वह ईसाई धर्म रहा हो अथवा इसलाम, वह सदा असफल रहा है। और मनुष्य की बुद्धि ने रूढ़िवादियों के कठोर दण्ड, नारकीय यातनायें, और

जन-साधारण का उपहास सब को सहन करके अपने लिये स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त किया है।

प्रत्येक समाज में धीरे धीरे एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो जाता है, जो अपने को धर्म का ठेकेदार समझने लगता है, जो पाप और पुण्य के विषय में व्यवस्था देने का अधिकारी बन बैठता है, और इस धार्मिक ठेकेदारी में कुछ उनके भौतिक स्वार्थ भी सम्बद्ध हो जाते हैं, फिर यह वर्ग मनुष्य की पारलौकिक चिन्ताओं के आधार पर उसका शोषण करने लगता है, और इहलोक से आगे स्वर्ग और नरक के टिकट भी बाँटने लगता है। जो इस वर्ग की शक्ति को स्वीकार करता है, जो इसकी मान्यता मानता है और जो इसके प्रति श्रद्धा विश्वास रखता है, वही स्वर्ग का अधिकारी होता है, और जो इस वर्ग के हितों के विपरीत आचरण करता है, उनकी शक्ति के प्रति विद्रोह करता है, उसके लिये नरक की जलती आग प्रतीक्षा कर रही है। उसका कहीं निस्तार नहीं है।

यह वर्ग घोर रूढ़िवादी और कट्टर पन्थी हो जाता है। चूँकि इसको जीवन-निर्वाह के लिये सारी सामग्री बिना श्रम किये ही प्राप्त हो जाती है, इसलिये यह श्रम की अवहेलना और उपेक्षा करने लगता है। पूजा, अर्चन और उपहार तथा दान की सामग्री ही से यह वर्ग अपना पालन पोषण करता है। यह विद्या के पठन पाठन का सर्वाधिकार अपने लिये ही सुरक्षित कर लेता है। और चाहे अन्य भौतिक विद्याओं के अन्य लोग अधिकारी भी हों, परन्तु जो रहस्य मयी आत्म-विद्या है, जिसको पर विद्या भी कहते हैं उसका अधिकारी तो इस वर्ग के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

इस वर्ग में कोई कोई ऐसा विरला व्यक्ति भी मिल जाता है, जो वास्तव में आत्म विद्या का जिज्ञासु होता है, और उसके रहस्यों को जानने और समझने के लिये प्रयत्न और साधन करता है। परन्तु साधारण नियम इसके विपरीत है। बिना ही श्रम के धन पा जाने वाला व्यक्ति बहुधा भोगों में आसक्त और विलासी हो जाता है, उससे सदाचार के नियमों का पालन करना दुर्लभ हो जाता है। सत्य धर्म की भावना उससे लुप्त हो जाती है, और जिस भौतिक जीवन की वह निन्दा करता है भीतर से इसी का दास हो जाता है।

परन्तु वह अपनी यह विलास-प्रियता, अपनी यह काम लिप्सा, अपनी यह भोग वासना सब के सामने प्रकट नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करे तो उसके श्रद्धालु अनुयायियों का विश्वास ही उसके ऊपर से उठ जावे, उसकी जीविका का साधन ही नष्ट हो जावे, उसकी मान्यता की ही इति श्री हो जावे। इसलिये वह अपनी विलास-प्रियता, अपनी भोग वासना और अपनी काम-लिप्सा अन्यान्य आवरणों में छिपाये रखने की चेष्टा करता है। वह भीतर से जितना अपवित्र होता है, उतना ही बाहर से पवित्रता का ढोंग रचता है, वह भीतर से जितना ईश्वरीय चेतना से हीन होता है उतना ही बाहर से उसका प्रदर्शन करके लोगों को भुलावे में डालने का प्रयत्न करता है, इसी मिथ्याचार का नाम पाखण्ड है।

धर्म या अन्य कोई संस्था, उसका जन्म उसके सतोगुण को लेकर होता है। इस सतोगुण से

इन्द्रिय-जय, सेवा भाव और न्याय निष्ठा का जन्म होता है। इन्हीं गुणों के प्रभाव से वह संस्था बढ़ती और प्रवर्द्धित होती है। इन गुणों को अङ्गीकार करने से उस संस्था में तप-बल उत्पन्न होता है, फिर तप बल से जन बल और बाहुबल प्राप्त होता है। और उस समय वह संस्था अपनी युवावस्था को पहुँच जाती है। उसमें एक शक्ति आ जाती है। और वह उस शक्ति का गर्व अनुभव भी करने लगती है यह गर्व उसको सतोगुण से लाकर रजोगुण के स्तर पर रख देता है।

रजोगुण के प्राधान्य में संस्था का बाह्य प्रसार होने लगता है। शक्ति सन्चय का उद्देश्य अब दूसरों की सेवा न रहकर आत्म-प्रदर्शन और आत्म-विज्ञापन हो जाता है। उस समय संस्था के संचालकगण इस बात की परवाह नहीं करते कि जनता में उनकी भावना कितनी गहराई में प्रविष्ट हुई है, वह देखते यह हैं कि जनता में उनकी शक्ति का प्रसार कितना हुआ है, उनके मतावलम्बी अनुयायियों की संख्या बढ़कर कितनी पहुँची है।

सतोगुण की प्रधानता में पूजा अपने को पवित्र करने का एक साधन होती है, चाहे उस पूजा का रूप वैयक्तिक हो या सामाजिक। परन्तु उसका उद्देश्य यही होता है कि लोगों में इन्द्रिय जय, सेवा भाव और न्याय-निष्ठा की धारणाओं को पुष्ट करे। रजोगुण की प्रधानता में पूजा का यह स्वरूप विकृत हो जाता है, और वह केवल एक सामाजिक अनुष्ठान बन जाती है, और उसमें प्रदर्शन और उल्लास को जाग्रत करने का ध्येय ही प्रबल हो जाता है। इसी रजोगुण की प्रधानता के वशीभूत होकर मनुष्य दूसरों के मान्य ग्रन्थों, उनके सम्मानित व्यक्तियों और उनके आचार-विचार पर प्रहार करता है, और उसे धर्मकृत्य मानता है। इसी अवस्था में वह दूसरों को बलात् अपने धर्म में लाने का प्रयत्न करता है, उनके श्रद्धा के केन्द्रों पर आघात करके उनको नष्ट कर देना चाहता है। और इसी से धार्मिक बर्बरता का जन्म होता है।

रजोगुण की प्रधानता की अवस्था में ही संस्था में एक आन्तरिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस संघर्ष का वास्तविक आधार स्वार्थ होता है। परन्तु यह स्वार्थ सिद्धि की भावना अपने को अनेक वादों के आवरणों के परिधान से सुसज्जित कर के संसार के सामने प्रस्तुत करती है। इस संघर्ष को दूर करने के लिये विधानों और नियमों का निर्माण होता है, जो मनुष्य को बाहर से नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं।

सतो गुण की अवस्था में जोर अन्तर पर होता है और रजोगुण की अवस्था में यह जोर प्रत्येक दिशा में अन्तर पर न रह कर बाह्य पर दिया जाने लगता है।

सतो गुण की अवस्था में कला संकेतात्मक होती है। उसका उद्देश्य आन्तरिक भावना को जन साधारण तक पहुँचाने का होता है। वह एक भाषा या माध्यम का काम देती है, उस जगह जहाँ शब्दों की गति नहीं और साधारण भाषा की पहुंच नहीं। परन्तु रजोगुण की अवस्था में कला धर्म भावना के आधिपत्य से स्वतन्त्र हो जाती है, वह साधन न रहकर साध्य बन जाती है। उसमें विस्तार, स्थिरता और सम्मोहन की इच्छा पूर्व वर्ती संकेतिकता, कोमलता और सेवा प्रेरणा का स्थान ले लेते हैं।

परन्तु रजो गुण के इस प्रसार विस्तार और आत्म-प्रदर्शन से मानव आत्मा की संतुष्टि नहीं होती है, एक सीमा पर पहुँच कर एक तो वह स्वयं बाह्य-विजय से ऊब जाती है और दूसरे आन्तरिक संघर्ष के कारण उसमें विजय और बाह्य-प्रसार की क्षमता भी शेष नहीं रहती, उस समय वह चेतना अवसाद ग्रस्त हो जाती है। और उसी रजो-गुण की अवसादावस्था में उसमें विलास-प्रियता, भोगेच्छा जाग उठती है, जिसमें से होकर तमो-गुण की प्रधानता का प्रशस्त मार्ग खुल जाता है।

ऐतिहासिक क्रम में रजो-गुण की प्रधानता के पश्चात् तमो-गुण की प्रधानता का नम्बर आता है। विलास-प्रियता से भोगासक्ति और भोगासक्ति से काम-लिप्सा और काम-लिप्सा से मनुष्य मृत्यु की ओर अग्रसर होता है। यही हाल समाज का भी होता है।

तामसिक अवस्था का प्रारम्भ विलास-प्रियता से होता है, परन्तु जैसे जैसे रजोगुण की शक्ति क्षीण हो जाती है, वैसे वैसे व्यक्ति में आलस्य और प्रमाद बढ़ जाता है। काम लिप्सा इसी तामसिक अवस्था की एक दशा है। ऐसा मालूम होता है कि जो मूर्तियां काम-क्रीड़ा की हमारे मन्दिरों में विद्य-मान है वह इसी तामसिक युग के प्रभाव की द्योतक हैं। हमारे पौराणिक साहित्य में जो कामु-कता का चित्रण यत्र तत्र पाया जाता है, वह भी ऐसा मालूम होता है कि इसी युगकी देन है।

तमोगुण प्रधान युग में धर्म का स्वरूप सर्वथा विकृत हो जाता है। समाज का आदर्श इन्द्रिय-जय, और आत्म-संयम से गिरकर भोगरति बन जाता है, सेवा भाव का स्थान शोषण और संदोहन की वृत्ति ले लेती है, और सामाजिक अन्याय को दैवी विधान समझा जाने लगता है, कला नग्नता और कामुकता के चित्रण का साधन बन जाती है। समाज की नैतिकता शिथिल हो जाती है, प्राण-शक्ति क्षीण हो जाती है, और वह अपने ऊपर किये हुये प्रहारों का प्रतिकार नहीं कर सकता, और सहज ही में दूसरों के आघात का शिकार बन जाता है।

इस अधोगति की अवस्था में भी उसके सतो-गुण और रजोगुण का एकदम नाश नहीं हो जाता। यह दोनों गुण तमोगुण से अभिभूत होकर दब अवश्य जाते हैं, परन्तु मिट नहीं जाते। और इन्हीं दोनों गुणों का अवशिष्ट लेकर कुछ प्रगति-वादी समाज का पुनरुत्थान करने का प्रयास करते हैं। जो कामुकता और अश्लीलता धार्मिक ग्रन्थों में पाई जाती है, उसके नये सङ्केतात्मक अर्थ किये जाते हैं। कभी कभी यह अर्थ बड़े दुरूह और विषम दिखाई देते हैं, और उससे साधारण बुद्धि को परितोष नहीं हो पाता है।

इन प्रगति-वादी सुधारकों में से अधिकांश केवल समाज और सामाजिक धर्म के बाह्य विकृत रूप को ही देखते हैं, और उसके प्रतिरोध में केवल सुधारवादी बनकर रह जाते हैं। उनकी दृष्टि धर्म के मर्मस्थान और केन्द्र तक नहीं पहुँच पाती। जब तक अभ्यान्तर शुद्ध और पवित्र नहीं होगा तब तक कोई सुधार स्थायी नहीं हो सकता।

इन सुधार वादियों का विशेष विरोध होता है, रुढ़ि-ग्रस्त समुदाय से। यह वही रुढ़िग्रस्त समाज है

जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जिसके हाथों में पहुँचकर भगवान की प्रार्थना और पूजा एक मिथ्याडम्बर बन जाती है, मन्दिर कलुषता के अड्डे बन जाते हैं और जनसमुदाय प्राण हीन शरीर की तरह अपनी स्वाभाविक गति और क्रिया को खो बैठता है।

धार्मिकता के यह ठेकेदार अपने बचाव के लिये आड़ लेते हैं, समाज के उसी बचे हुये सतोगुण की, जिसकी वह अपने नित्य-प्रति के जीवन में अवहेलना करते हैं। गिरी हुई अवस्था में भी कुछ साधु महात्मा ऐसे होते हैं जो इन्द्रिय-जय, पर-सेवा और न्याय-निष्ठा के आदर्शों पर चलते रहते हैं। इन इने गिने साधु पुरुषों की साधुता के पीछे इनकी तामसिकता अपने बचाव के लिये रक्षा का स्थान ढूँढ़ती है। परन्तु आचरण में यह लोग इन साधु पुरुषों का अनुकरण नहीं करते। सुधार-वादियों के प्रहारों के सामने इन साधु पुरुषों का प्रयोग चर्म ढाल के रूप में ही किया जाता है।

केवल सुधार वाद से धर्म का उद्धार नहीं हो पाता। सुधारवाद तो केवल ऊपर की लीप पोत है जो मकान अन्दर से जर्जर हो चुका है, बाहर की लीप पोत से केवल उसका बाह्य रूप बदला जा सकता है। उसको नया जीवन प्रदान नहीं किया जा सकता। नये जीवन के लिए आवश्यकता होती है एक आमूल परिवर्तन की, जो तामसिक अवस्था में फंसी हुई चेतना का उद्धार करके उसको एकदम सात्विक स्तर पर ले जा सके, जो फिर से आत्म-संयम, सेवा भाव और न्याय-निष्ठा में उस चेतना को आरूढ़ कर सके, जो विवेक को जगा कर नीर-क्षीर का ज्ञान उत्पन्न कर सके, और जो रूढ़ियों को तोड़ कर फिर से सत्य विश्वास को उत्पन्न कर सके। जो पाखंड को मिटाकर सत्य सरल की स्थापना कर सके और इस काम के लिए आवश्यकता होती है अध्यात्म की।

सामाजिक धर्म की गति है अन्तर से बाहर की ओर। आध्यात्म की गति है बाहर से अन्तर की ओर। धर्म का आधार है पूजा और अनुष्ठान। अध्यात्म का आधार है साधना और आत्म-चिन्तन धार्मिक अनुष्ठान ले जाते हैं भेद और अनेकता की ओर, अध्यात्म ले जाता है तदात्मीयता और एकता की ओर।

आध्यात्म बुद्धि तर्क और विज्ञान को सत्य का अन्तिम निर्णायक नहीं मानता। जो समीक्षा और आलोचना इनकी रूढ़िवाद करता है उसे अध्यात्म स्वीकार करता है, परन्तु साथ ही साथ यह कहता है कि सत्य की अन्तिम निर्णायका अन्तरदृष्टि है। अन्तरदृष्टि द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार होता है। यह अन्तरदृष्टि सत्य में स्थित होने से उत्पन्न होती है। उस समय सत्य और आत्मा के बीच के सारे व्यवधान उठ जाते हैं। बुद्धि, मन और इन्द्रियों का विकास तो जगत में विभिन्न संकीर्ण उद्देश्यों को लेकर हुआ है, इसलिये वह मनुष्य को अपनी उपयोगात्मक सीमा तक ही पहुँचा सकते हैं, आगे नहीं। सत्य को मनुष्य सत्य में स्थित होकर ही जान सकता है। जो सत्य में स्थित होगया है, वही आत्म पुरुष है, और उसका अनुभव ही आत्म अनुभव है, उसका वाक्य ही आत्म वाक्य है।

आध्यात्म बुद्धि, तर्क और विज्ञान की सीमा स्वीकार करते हुए भी उसकी उपेक्षा या अनादर नहीं करता। जगत के जिस स्तर पर वह सत्य की

व्याख्या करते हैं, उस स्तर पर तो उनकी साक्षी और उपयोगिता स्वीकार ही करनी होगी। परन्तु अध्यात्म यह नहीं मानता कि वह सत्य का अन्तिम स्तर है। सत्य अगणित पर्दों से ढका हुआ है। सृष्टि के विकास में अनादिकाल से एक पर्दे से दूसरा उत्पन्न होता आया है। और वस्तु-जगत में इन पर्दों को फाड़कर सत्य के केन्द्र में प्रविष्ट हो कर उसमें स्थिति हो जाना किसी अत्यन्त महा-मानव के लिये ही सम्भव हो सकता है जो परब्रह्म के तद्रूप हो जाय, परन्तु योग और साधना द्वारा अध्यात्म ऐसी पारदर्शी दृष्टि पैदा हो जाना सम्भव मानता है जिसकी सहायता से इन पर्दों के आव-रणों को भेद कर सत्य के केन्द्र तक पहुँच कर अनन्य निष्ठा से वहाँ स्थित होकर सत्य का साक्षात करके तद्रूप हो सके।

धर्म की सात्विक अवस्था में अध्यात्म और धर्म एक रूप होते हैं। अध्यात्म धर्म में स्थित होकर उसका सहायक और पोषक होता है। धार्मिक अनुष्ठान भी छल हीन, सत्य और सरल होते हैं और वह भी अध्यात्म का भरण और पोषण करते हैं। उस समय अन्तर और वाह्य में कोई विरोध नहीं होता, जो अन्तर में होता है, वही बाहर भी। अन्तर अपनी सरल अभिव्यक्ति बाहर करता रहता है बाहर अन्तर की सर्जनशील उन्मुक्ति के लिये क्षेत्र प्रस्तुत करता है।

इस सात्विक अवस्था में धर्म के तीन अनुष्ठान मुख्य होते हैं, यज्ञ, दान और तप। तप से इन्द्रिय विजयमें, दान से सेवा भाव में और यज्ञ से न्याय-निष्ठा में सहायता मिलती है। परन्तु जैसे ही सत्य रज से अभिभूत होने लगता है, धर्म और अध्यात्म एक दूसरे से अलग होने लगते हैं। धर्म रूप धारण करने लगता है कर्मकाण्ड का, और अध्यात्म रूप लेने लगता है आत्म चिन्तन का। ऐसी ही किसी स्थिति पर पहुँच कर हमारी आर्य जाति के इतिहास में जीवन, यज्ञ और ज्ञान की दो धाराओं में विभा-जित हो गया। वेदों का संहिता भाग उपनिषदों से अलग हो गया। भगवान कृष्ण ने अपने गीता के संदेश में फिर उन दोनों धाराओं को एकत्र करके मिला दिया।

गीता के संदेश को स्वीकार तो किया गया परन्तु अपनाया नहीं गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान और कर्म, अन्तर और बाहर में जो द्वन्द था वह ज्यों का त्यों ही बना रहा। कर्म ज्ञान से अलग होकर हिंसा और अन्याय का समर्थन करने लगा, और ज्ञान कर्म से अलग होकर मिथ्यावाद में पड़ गया और जगत् की सत्ता को ही अस्वी-कार करने लगा।

जिस तरह धर्म का ह्रास हुआ उसी तरह अध्या-त्म का भी ह्रास हुआ। अन्तर और बाहर दोनों साथ साथ चलते हैं। अध्यात्म का पक्षी धर्म के जाल में फँस गया, और उससे अपने को अभी मुक्त नहीं कर पाया है। समाज में अध्यात्म को जानने और पहिचानने वाले बहुत कम रह गये, और जिसको थोड़ा भी कहीं कुछ अनुभव हुआ उसी के आधार पर वह अपनी एक नयी दूकान खोल बैठा, और उसके नाम पर व्यापार करने लगा। जो गुरूडम धर्म में प्रवेश कर गयी थी, वही अध्यात्म में भी प्रवेश कर गयी। साधना के अलग अलग मार्ग चल पड़े। सोना मिट्टी में मिल कर मिट्टी हो गया है, और साधारण लोग मिट्टी

और सोने की परख भूल गये हैं।

गुरू की आवश्यकता रहती है, परन्तु गुरूडम की आवश्यकता नहीं है। गुरू की आवश्यकता स्वीकार ही करनी होगी। वैद्यक के ग्रन्थों में सारे रोगों का वर्णन उनका निदान और उनकी औषधियाँ लिखी हुई हैं, परन्तु फिर भी जब हम बीमार पड़ते हैं, तो कुशल वैद्य को ढूंढ़ते ही हैं। वैद्यक के पुस्तकालय से काम नहीं चलता। गुरू भी एक मानसिक रोगों का वैद्य है। उपचार और चिकित्सा उसी के निरीक्षण में होनी चाहिये। अध्यात्म और योग के ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा है, परन्तु वह सब की समझ में नहीं आता। किसी पुस्तक को पढ़ लेना दूसरी बात है और उसको समझना दूसरी।

अध्यात्म एक प्रकार का ज्ञान है। जैसे कि रसायन शास्त्र है। इसमें हिन्दू मुसलमान, ईसाई और सिख का कोई भेद नहीं है। अपने अपने धार्मिक अनुष्ठान सबके अलग २ हो सकते हैं, परन्तु अध्यात्म तो सबके लिये एक ही होगा, जैसे कि रसायन शास्त्र सबके के लिये एक ही है।

एक दिन सत्संग के समय शिष्य के गुरू से जल्दी-जल्दी मिलते रहने के महत्व पर बातचीत चल रही थी। गुरू ने कहा. "लोग जब गुरू के पास जाते हैं तो अपना हृदय उनके पास छोड़ आते हैं किन्तु उसके पास से लौटने के कुछ समय बाद अपने हृदय को भी वापस बुला लेते हैं। इसलिए गुरू से बार बार मिलने की आवश्यकता रहती है।"

एक श्रेष्ठ साधक ने पूछा "लोगों की इस प्रवृत्ति का कारण क्या है ?"

सद्गुरू ने समझाया, "योगी की प्रवृत्ति उल्लू से मिलती जुलती है। वह जहाँ रहता है वहां सब कुछ उजाड़ कर वीराना बना देता है। अतः धन, परिवार, विद्या, प्रतिभा आदि से सम्पन्न व्यक्ति योगी को अपने हृदय में स्थान देने से डरते हैं कि कहीं सारी सम्पति स्वाहा न हो जाय।"

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

उच्च अध्यात्मिक स्थिति प्राप्त साधक के प्रशंसक ने उपस्थित व्यक्तियों को बतलाया, "योगाभ्यास द्वारा प्राप्त शक्ति से प्राकृतिक घटनाओं तक का नियंत्रण किया जा सकता है। महात्मा जी अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करके वर्षा की झड़ी एकदम रोक सकते हैं।"

शंकालु श्रोताओं की प्रश्नात्मक दृष्टियाँ महात्मा जी की ओर उठीं।

महात्मा के होठों पर स्वाभाविक स्मिति जैसी की तैसी बनी रही। उन्होंने प्रशंसक की बात का खण्डन किया, "ऐसा नहीं, यदि बरसते हुये पानी को अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करके रोकना चाहूँ तो वह और तेजी से बरसेगा।

भौचक्के प्रशंसक ने एकांत में निवेदन किया कि एकबार महात्मा जी ने स्वयं यह बात बतलाई थी।

महात्मा जी ने समझाया, "तब मैं परमात्मा प्रतिद्वन्दी (अर्थात् शैतान) रहा हूँगा, किन्तु अब नहीं।"

(संकलित)

Balaji

GOD REALISATION

(Shri Ram Chandra Ji, President, Shri Ram Chandra Mission)

Having established the indisputable concept of God in terms of not-self, or that which is non-existent or 'zero' as opposed to and implied in the concept of self which exists as 'one', the task of an adequate definition of God-realization may be taken up. From times immemorial God-realization has been trumpetted to be the ultimate goal of all human endeavour (पुरुषार्थ) and existence, specially in India. But just like the concept of God that of God realisation too has become shrouded in such sheets of mystery that a sincere man of reason and science begins to feel disgusted at the very mention of the term. To my mind, therefore there is a real need of an adequate definition and interpretation of the term God-realization, so as to make it comprehensible at the level of the reason, the chief instrument used by the scientist for the exploration of reality.

The word 'Realization' in ordinary speech refers to the psychological process of cognition (knowledge). In Indian thought, however, realization involves the three-fold process of knowing (ज्ञान) seeing (दर्शन) and getting into or becoming (प्रवेश). The ordinary usage refers only to the first two stages of the process. Thus according to the correct meaning of the Indian seers God-realization involves not only knowing God (Zero or not-self) through reasoning and authority, but an actual perception or seeing, and consequently getting into God.

Now we have defined God as Zero or Non-Self. What does knowing and becoming the 'non-self' signify after all ? Let us start with the question as to what is the 'self'. The first answer at the level of crude perception will obviously be that the 'self' is the body or in terms of modern psychology, the organism. At this level one has a certain conception-crudest according to the views of Indian seers of the 'self', and lives and behaves under the directive force of body consciousness. Such a person will be a slave to the impulses of bodily pleasure and pain. Now take the example of martyr like Socrates or Gandhi. Does he know himself and live and behave as nothing but an organism or body ? To be sure he is treating himself as an organised system of innate and acquired tendencies, more or less fixed. In terms of modern psychology, he is

living at the level of his character or personality and not at that of his organism. At this level body-consciousness starts yielding place to (soul) mind-consciousness or in terms of modern psychology, personality-consciousness. Every human being starts at the level of 'self-organism' and rises more or less to the level of 'self-personality.' The examples of Socrates and Gandhi have been taken simply as extreme cases of such a transition. Now take the two extreme examples of persons at these two levels. To the person at the lowest extreme of the first level–an animal or human child at birth–the person at the highest extreme of the second level-a Socrates or a Gandhi or a Rana Pratap will appear as living comparatively at the level of the non-self (or to be more exact at the level of a less-real-self). The rise to the second level i. e., the realization of a finer or less-real-self, has been possible by a sort of a dissolution of the cruder self, existing at the first level. I have taken only these two levels for the purpose of an elaborate analysis, simply because they are closer to the experience and hence to the comprehension of almost every rational animal (human being). But there is no limit to the levels of the fineness of the self. Just as at the second level the body-consciousness diminishes and the organism begins to appear as a mere possession or instrument of the 'self' and not the 'self' itself, so also at a still higher level the mind (soul)-consciousness begins to diminish and the mind and character (personality) begins to appear as a mere possession or a covering of the 'self' rather than the 'self' itself. At this level not only the bodily impulses of pleasure and pain but almost all the innate and acquired behaviour tendencies get degraded from the high position of our masters to that of our slaves. A person residing at the highest extreme of this level does not feel bound by or under the load of any innate or acquired tendencies. In the technical terminology of Indian seers, he has attained freedom (मोक्ष) and got rid of instinctual and habitual behaviour tendencies (संस्कार). This level is not a matter of ordinary human experience, but can be experienced for a short time in the state of what is known in the Yogic system of Sadhana as (निर्विकल्प समाधि) which is to speak all crudely akin to the dreamless-deepsleep of ordinary human experience. A person living permanently at this level may be said to have realized a still finer level of the self, or from the point of view of the person at the Ist level, to have moved closer still to the (non-self) God.

But this third level is certainly not the end of this journey. There are innumerable levels whose accurate description is quite difficult to be made available at the level of Reason, not because they are fictitious, but for the simple reason that they lie beyond the reach of Reason. Any person inspired by the true scientific spirit of inquiry, however, is always welcome to have a direct experience of these stages of the realization of non-self (God), and then try to make them available at the level of Reason and orthodox science; if he can.

One question may legitimately be asked, here. The levels and stages as depicted above, are really speaking the stages of the realization of a finer and finer 'self'. Does any absolute Non-Self (God) really exist ? And if it does, is it ever possible for the 'self' to realize or become the 'non-self' (God) completely ? As to the first question there can be no doubt that a non-self is logically implied in the 'self'. Once you accept the reality or existence of the 'self', you cannot deny the same to the 'non-self'. The very conception of 'self' assumes the 'non-self'. Then we come to the second question. Really speaking the process of the realization of 'Non-self' is nothing but a gradual dissolution of the 'self'. I take the example of the atmosphere of the air to describe the process. At the level of the surface of the earth, air is quite heavy and dense. The farther you move away from the earth, the air goes gradually getting thinner and lighter, But can the air, in essence, ever pass into what is non-air. To be logical it is not possible. The self can come closest to the non-self but can never be Absolute, Non-Self. The very word 'Absolute' before 'Non-Self' suggests that it can never be reached by the 'self'. Let me again take an example from mathematics to make my point clearer. Starting from the point of view of the Atheist, I described God as Zero and Self as 'one'. As we go on dissolving the 'self' or 'one' through the negativating function of the decimal point, it gradually approaches zero or non-self or God. But can the 'one' be ever reduced to absolute zero', whatever number of naughts may be placed between it and the decimal point ? But, however, this is logical reasoning and the ultimate Truth lies far beyond the grasp of logic. Hence the correct answer to the 2nd question is not a matter of information, but knowledge. And let the enthusiastic seekers after Reality be courageous enough to find it themselves. It is said of Lord Budha, that

he always kept mum when such questions were asked of him, not because he was ignorant, but because the correct answer to such questions is a matter of direct knowledge at the appropriate level of experience and any attempt to describe it in terms of the categories of knowledge at a lower level of experience is bound to become confusing at the best and ridiculous at the worst.

To sum up : we know the 'Self' directly. So, we are convinced through contrast that the 'Non-Self' is also there. But if a further problem of coparing the God positively with something is raised, we do not find anything to compare with God. Hence the Vedas are describing it negatively, as 'not this' (नेति). One, therefore existing at his own level, can only perceive and realize God but can never measure it. The positive comparison can be made only by that person who has rushed into the region of Reality.

(Translated by S. P. Srivastava)

An abhyasi once related that he felt a lot of difference between the peace he felt after meditation aided by transmission and the peace he had previously been feeling after a regular repetition of a certain mantra for a few hours daily.

The master explained, "The peace produced by mechanical repetition of mantras is a result of mental exhaustion and can be achieved as well by a repetition of even the multiplication tables with equal ardour and labour. The difference between such peace and the one produced through a real connection of the heart can be noticed by any sensitive abhyasi."

Once in a gathering of Satsangies, the discussion as to why intelligent educated people fall a victim to Gurudom, was going on.

The master explained, "It happens only when there is no real thirst for God-Realisation. People are impressed by a certain extraordinary quality of a certain person e. g. education, oratory, costumes and even good physique."

MARCH TO ETERNITY

(Sri Ishwar Sahai, Lakhimpur-Kheri U. P.)

God is Eternal and so is the man. But man is mortal, so they say. The reason of this paradox lies in the confusion regarding the real meaning of Man. To our outer view, Man means the grosser physical form consisting of the body. The body, being composed of matter, is subject to change; and death is the ultimate result. Really death is the end of the physical body of the man and not of every thing of the man. Much still remains after the material body has ended, though we may not be able to see or feel it physically. That means the existence of man continues even after death, in a finer form with a subtle body known as सूक्ष्म शरीर (Astral body). Now the man enclosed within this astral body is also not to be taken as the Real Man, for behind this subtle body there is another still finer body known as कारण शरीर (Causal body). So we may conclude that besides this physical body of the man there are other bodies which are finer and more subtle. But even this existence of the man with a fine causal body is also not the beginning. Prior to it man existed in still finer forms enclosed within more and more subtle coverings which are innumerable and can not even be named saparately. They are therefore not known as different bodies but only as diverse coverings round the soul. Thus we reach the conclusion that the Real Man is not as we see it in the physical form but some extremely fine being enclosed within the innumerable coverings one after the other. We may call it as Soul, Spirit or anything for our understanding, and Man taken in that sense must undoubtedly be taken as Eternal or Immortal like God. This is the general view held by almost all the great thinkers. It is now this Real Being of the man, far beyond the apparent man that we have to trace out and realise.

For this the only recourse open to us is Spirituality. It is probably the only means which can enable us to achieve easy and sure success. Religion, no doubt prepares us to some extent for our march on the path of spirituality. But it is not all and sufficient. Spirituality apart from religion, involves the process of the folding of self. Religion promotes within us a feeling of virtue and righteous-ness whereas spiritua-

lity involves the process of complete giving up of all things of our own creation, including even virtue and rightousness and advance towards Nothingness or Zero, which is the point of origin of our existence or the pure and absolute state, we were in, at the time of creation. Before creation we had no individual existence of our own. When the time of creation came the dormant forces round about the Centre became active by the effect of Stir caused by the Will of God. The process of creation started and in course of time things began to assume their physical form. Man also began to acquire its own form of existence. The first step towards the composition of Man was its formation into individual conscious entity, which was the first covering and the beginning of Egoism (or consciousness of individuality). This may in fact be regarded as the starting point of the individual existence of man or the very Real Man, in its absolute state which was akin to God.

From this original premitive state man began to march down to its present material form taking more and more layers of gross-ness one by one. Thus like a silkworm man began to form its own Cacoon. Now we want to free ourselves from all these bondages created by us and retrace our steps back to our primary or original state throwing off all coverings one by one. This is all the essence of spirituality and all our Sadhans (practices) tend towards that. Our existence in the present form is the result of a long process of evolution and now for our return to the point of origin we have to revert to the process of involution. It means the complete dissolution of the tiny creation of our own making or the giving up of all our belongings. Our belongings are the numerous coverings of grossness caused by the action of मनस् (psyche) चित्त (Consciousness) बुद्धि (intellect) and अहङ्कार (Ego) resulting in the formation of संस्कार (impressions) and numerous other opaque layers.

Now I briefly review in bare outline the various spiritual states which we generally pass through during our march to Eternity. Our outermost coverings comprise of the grossest layers of Sanskars, which result from the effect of our thoughts and actions. Our thoughts and actions too depend entirely upon the working of our mind. So our attention is naturally directed towards the proper adjustment of and due moderation in the activities of the mind. In our earlier stages of progress we feel our mind

as more settled on one point (God). Consequently we begin to feel comparatively more calm and peaceful internally. The feelings of peace continues developing as we grow more and more closely attached to the Real Object. Thoughts and actions begin to lose their intensity or weight and the grosser effect of Sanskars begins to get minimised. In course of time our actions become automatic without the least implication of thought or will. This machine-like working, for the sake of duty rather than for desire based on attachment brings us to a state of desirelessness, which in other words means the stopping of the formation of Sanskars. What now remains is only to undergo the effects of the already formed sanskars which lie in store still. When this is done, we have come up to the level of Liberation.

Though we have thus achieved the state of liberation which to common judgement may probably be a high attainment still we are far short of the mark as the complete freedom from all bondages is wanting still. So far we have considerably been relieved of the grossest covering of Maya in its crudest form, but we have yet to deal with its finer layers which we are still entangled in. This vast circle of Material manifestation is the direct result of Maya which brings to our view the illusory aspect of things presenting them as Real. Our onward march through it reveals to our mind the changing and transitory character of things and we begin to feel diverted from them, with our eyes fixed more firmly on the unchanging Absolute Reality. At priliminary stages visions of dazzling light are some times experienced but they fade away soon. Some people attach much importance to it thinking light to be the real thing. But it is not so. Light is not our goal. It is due to the contact of matter with Reality which produces sparks of light. When we cross this point light fades away and we enter the region where there is neither light nor darkness. During our march through this region we gradually begin to lose touch with matter and our existence becomes very fine and subtle. The feelings of peace and calmness too grows finer. Plainness and simplicity begins to prevail all over, and the man enters the life of the spirit in true sense. The stage is known as अव्यक्त गति (undifferentiate state). Here man is almost free from the effect of Maya except in so far as it relates to its true state as a pure Godly energy which he can well utilise for Godly work when necessary.

We now enter the region of Ego. The cruder forms of Ego having already been crossed over during our march through the previous regions, what now remains of it is only in the form of consciousness of self. The idea of worship fades away from the mind. Devotion changes its colour. Duality sinks into oblivion. Same-ness begins to grow predominant and the man feels himself merged more and more in Absolute Reality. One-ness reigns all over. The man feels all the Godly attributes and powers stored in him which he can utilise any way according to the Divine Will.

But that is not the end. We go on still, growing lighter and lighter at each step. Our existence is now transformed into mere identity of soul and that too grows finer and finer as we pass through the last region known as the Central Region. We are, by now, almost free from the weight of every thing. Calmness, simplicity, consciousness and even potentiality seem to be almost extinct. In this seemingly dormant state of existence as an individual identity devoid of every thing (or as a Zero). We are now swimming ceaselessly through the Infinite expanse onwards to Eternity which is our final goal.

The Scientific Basis of Sahaj Marga

(Sri Raghavendra Rao Gulbarga—South India)

It is a fashion, now-a-days, among people at large to try to get themselves acquainted with everything which is branded as "Scientific vaguely knowing the meaning of the word 'Science'. According to the dictionary it means knowledge ascertained by observation and experiment, critically tested, systematised and brought under general principles. In even materialistic terminology pure science means dispassionate observation of facts and experiences and formulation of the theories and discovery of the laws governing those facts and experiences without any utilitarian motive.

Dispassionate-ness and absence of utilitarian motive are absolutely essencial and indispensable for a science. But unfortunately the study and pursuit of materialistic science brings out innumerable alluring things so rapidly that before we know where we are, we are deeply engrossed in the

utilities of its discoveries, thus losing the true spirit of science. Similar is the case with our oriental spiritual science too, which has to some extent degenerated into quackery and witch-craft, when it went into the hands of charlatons and petty mendicants or when it became the exclusive property of the great intellectual giants of the compartmental schools of speculative phylosophy. Hence inorder to find out whether any theory or system of thought or practice is truly scientific we must first see whether it is pursued dispassionately and is free from narrow utilitarian and selfish motives.

One thing more. A system of thought is considered scientific only when it is devoid of miracle, chance and capricious will. Every observed fact or experience must either be explicable in the light of previously known facts. Many advocates of mysticism and teachers who style themselves as 'Aparoksha Jnanis' (अपरोक्ष ज्ञानी) may not agree with this idea. But in the words of Sri Radha Kamal Mukerji:-

"The mystic is in fact as cosmopolitan as the man of science. Like him the mystic is bent upon eliminating from the world miracles, chance and capricious will. While the man of science extends his world by his defining senses and implements, the mystic does the same through dicovering and revealing fresh concords and symmetries".

In the light of these fundamental grounds of science, we may now proceed to consider the basis of our own system of Sadhana, known as Sahaj Marg.

The assumptions used in the system of Sahaj Marga are the simplest. The first and the foremost is the belief in the existence and one-ness of God. None except a professional atheist may probably hesitate to accept this assumption. But a physicist may immidiately ask, "Tell me the properties of God either in C. G. S. or in F. P. C. system," and his question is quite scientific indeed. In answer to his question the scientist is asked to find it out for himself, which can only be possible when he acquires the knowledge of God in true sense. This practical knowledge can not be derived from books but only by transforming himself into the real form which is akin to God's. This is what we have in Sahaj Marga.

The next assumption is that an individual can gain practical knowledge of God only through the help of a worthy guide. Naturally no higher knowledge is possible without the help of a teacher or a guide hence this assumption too is quite simple and true to experience.

And now comes the uniqueness of the system. That is regarding the method of training. The path of self-realisation can be completely crossed over in one life only by the help of **Yogic Transmission (Pranahuti).** Hence it follows that only such a man as has full command over this yogic power is best suited to our purpose as a guide. The method too is quite simple. The aspirent is directed to practise meditation in quite a simple and natural way, receiving impulse from the guide by transmission. After a little practice the aspirant begins to experience the spiritual states one by one which he starts to analyse and synthesise in the light of the above assumptions. He begins to think of his guide and his work, which most naturally develops into constant remembrance.

The efficiency of the system lies in the fact that spiritual advancement is conducted along side with and on the basis of self purification. The very start is made from the cleaning of the heart and by and by all the Chakras are thoroughly cleaned and illumined. This is a very essential step and needs special attention and care on the part of the teacher. If this vital step in the spiritual training of an aspirent is, in any way neglected or ignored, the spiritual powers attained by the awakening of the Chakras are likely to be misused. Hence to safeguard all such evils special attention is paid to the cleaning process.

Sahaj Marga is in fact the modified Raj Yoga which provides for simple and natural means, easily adjustible in the normal worldly life of a man. It is based on 'Though', the working of which has been deeply and scientifically studied by the ancient sages of India, and Patanjali's Yoga Darshan is an example.

I have briefly touched only the main points of the system in order to set before the readers the scientific basis of Sahaj Marga which leads us to an extreme degree of subtlity and refinement necessary for the attainment of our final goal.

'सहज मार्ग' पत्रिका के नियम

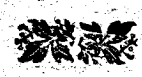

१—'सहज मार्ग' प्रति वर्ष चार बार जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्टूबर की पहली तारीख को प्रकाशित होता है।

२—'सहज-मार्ग' का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित गूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है।

३—'सहज-मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं, कहानियों आदि का विषय मुख्यतः आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक होना चाहिये।

४—लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा। लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वयं लेखक पर होगा।

५—प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा अंगरेजी लिपि में कागज के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखें या टाइप किये हुए होने चाहिए।

६—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नाँकित पते पर भेजे जाने चाहिये—

श्री सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
गुप्ता भवन, महराजनगर,
लखीमपुर - खीरी उ० प्र०

७—'सहज मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के प्रधान की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते हैं। विज्ञापनों की दर निम्न लिखित हैं—

कवर का चौथा पृष्ठ	पूरा ३०) तीस रुपये	आधा १५) पन्द्रह रुपये
अन्य साधारण पृष्ठ	पूरा २०) बीस रुपये	आधा १०) दस रुपये
		चौथाई ६) छ रुपये

'सहज मार्ग' का वार्षिक मूल्य [illegible] और एक प्रति का १) एक रुपया

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

1-Efficacy of Rajyoga	by Sri Ramchandra ji, Shahjahanpur (U.P.)	Price Rs 2-50 N. P.
2-Reality at Dawn	by Sri Ramchandra ji, Shahjahanpur (U.P.)	Price Rs 1-50 N. P.
३-सहज मार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	ले० श्री रामचन्द्र जी, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)	मूल्य १-५० नये पैसे
४-गुरू संदेश	ले० श्री रामचन्द्र जी, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)	मूल्य २५ नये पैसे
५-सहज समाधि	ले० कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)	मूल्य २५ नये पैसे

आवश्यक सूचना

यह अङ्क 'सहज मार्ग' का पहले वर्ष का अन्तिम अङ्क है। ग्राहकों का पहले वर्ष का चन्दा इस अङ्क के साथ समाप्त हो गया। उनसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि अगले वर्ष का चन्दा शीघ्र भेज कर अपनी प्रिय पत्रिका की आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने में सक्रिय सहयोग प्रदान करें।

चन्दा इस पते पर भेजें:- श्री ईश्वर सहाय जी

संचालकः- श्री रामचन्द्र मिशन(ब्राँच)

नौरङ्गाबाद-लखीमपुर-खीरी, उत्तर प्रदेश (भारतवर्ष)

श्यामकुमार पांडे द्वारा गांधी [illegible]हांपुर में मुद्रित